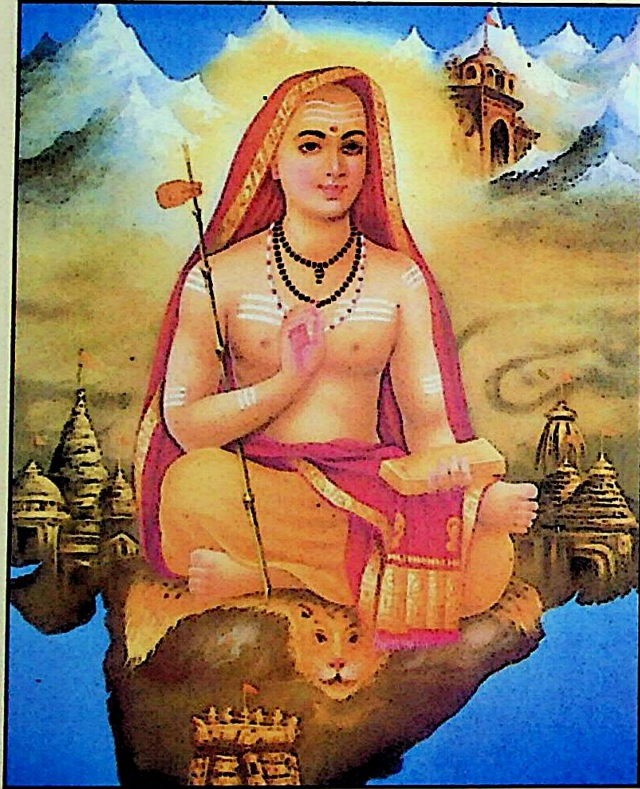


॥ श्रीमदभिनवचन्द्रेश्वरो विजयतेतराम् ॥

ऐतरेयोपनिषत्

(AITRAYOPANISHAD)

सटिप्पणसंस्कृतहिन्दीटीकाद्वयसंवलितशाङ्करभाष्यसमेता



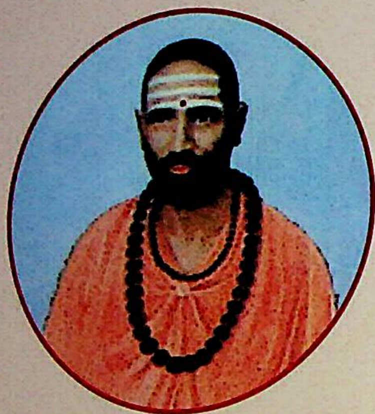
जगद्गुरु भगवान् आदि शङ्कराचार्य भगवत्पाद



'विद्यानन्दीमिताक्षरा' व्याख्याकार एवं निर्देशक

श्रीकैलासपीठाधीश्वर परमादर्श आचार्य महामण्डलेश्वर

श्रीमत्स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज, वेदान्त-सर्वदर्शनाचार्य



चतुर्थ कैलासपीठाधीश्वर
आचार्य म.मं. स्वामी गोविन्दानन्द गिरि जी महाराज

स्वामी गोविन्दानन्द गिरि जी महाराज का जन्म अविभाजित भारत के पञ्जाब प्रदेश के जेहल जनपद में हुआ था। काशी में सम्पूर्ण व्याकरण शास्त्र के अध्ययन के बाद कई वर्षों तक उसी पावन नगर में अध्यापन कार्य में आप संलग्न रहे। तत्पश्चात् वेदान्त अध्ययन की अभिलाषा से आप कैलास आश्रम संस्थापक स्वनाम धन्य आचार्य महामण्डलेश्वर अनन्त श्री स्वामी धनराज गिरि जी महाराज के पास ऋषिकेश आये। आचार्य श्री से संन्यास दीक्षा ग्रहण कर विधिवत् प्रस्थान त्रयी का अध्ययन आपने किया। असाधारण मेधा शक्ति सम्पन्न आपको प्रस्थान त्रयी भाष्य कण्ठ थे, अत: नेत्रबन्द कर आप इसकी आवृत्ति किया करते थे। आप अध्ययन की गहराईयों में उतर कर यथार्थ की खोज करते रहते जिसके फलस्वरूप ग्रन्थों के पाठ संशोधन तथा टिप्पण लिखने में आपकी प्रवृत्ति हुई। इस क्रम में आपने प्रस्थान त्रयी मूलपाठ, शांकर भाष्य आनन्द गिरि टीकादि तथा अन्य ग्रन्थों पर अपनी प्रासादिक टिप्पणियाँ लिखी। फलत: विशुद्ध शांकर सम्प्रदायानुसार अध्ययन में सटिप्पण अध्ययन का एक नया क्रम कैलास आश्रम में आप द्वारा प्रवर्तित हुआ। आपके विद्यार्थियों में सर्वाधिक स्नेहभाजन स्वामी विष्णुदेवानन्द गिरि जी थे जिनको आपने अपनी अमूल्य विद्या निधि को सौंपा तथा उन्हें विद्यावाचस्पति की उपाधि से अलंकृत किया। आपका आशीर्वाद प्राप्त कर उन्होंने आपसे अधीत टिप्पणियों का परिष्कार कर उन्हें शास्त्रों में यथा स्थान स्वलेखिनी द्वार पुन: अंकित किया। कैलास आश्रम से प्रकाशित ग्रन्थों में उन्हीं परिष्कृत टिप्पणियों को "गोविन्दप्रसादिनी टिप्पणी" संज्ञा देकर प्रकाशित किया गया है।

आप स्वभाव से ही एकाग्रचित्त और विरक्त महापुरुष थे। देहाध्यास को आपने जीते जी तिलाञ्जलि दे दी थी। आप सदा अपने सच्चिदानन्द स्वरूप में सहज भाव से प्रतिष्ठित रहते थे। कैलास ब्रह्मविद्या पीठ का स्थान रिक्त होने पर सन्तों और भक्तों की अनेक प्रार्थना पर वि. सं. १९८४ में आपने पीठासीन होना स्वीकार किया। उस समय आप की आयु लगभग ७५ वर्ष की थी। आप की प्रेरणा से अनेकों भक्तों ने कैलास आश्रम में निर्माण कार्य करवाये। आपने १० वर्षों तक कैलास पीठ को सुशोभित किया। वि. सं. १९९६ में आप ब्रह्मलीन हुये। यह अत्यन्त गौरव का विषय है कि इस शताब्दी में वेदान्त शास्त्र के अध्ययन में एक नये युग के निर्माण करने का श्रेय आप चतुर्थकैलासपीठाधीश्वर जी को प्राप्त हुआ।



।।श्री अभिनवचन्द्रेश्वरो विजयतेतराम् ।।

श्रीकैलासविद्यालोकस्य त्रिचत्वारिंशः (४३) सोपानः

ऐतरेयोपनिषत्

सटिप्पणसंस्कृतहिन्दीटीकाद्वयसंवलितशाङ्करभाष्यसमेता



'गोविन्दप्रसादिनी' टिप्पणीकार विद्यावाचस्पति

महामण्डलेश्वर श्री स्वामी विष्णुदेवानन्द गिरि जी महाराज



'विद्यानन्दीमिताक्षरा' व्याख्याकार वेदान्त-सर्वदर्शनाचार्य यतीन्द्रकुलतिलक श्रीकैलासपीठाधीश्वर

परमादर्श आचार्य महामण्डलेश्वर श्री स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज



सम्पादक

डॉ० उमेशानन्द शास्त्री

एम. ए., एल. एल. बी., पी. एच. डी., व्याकरणाचार्य

एवं

स्वर्ण लाल तुली

बी. इ., डी. डी. इ. (न्यूजीलैण्ड)

प्रकाशक

श्री कैलास विद्या प्रकाशन

कैलास गेट, हृषीकेश (ऊ॰ प्र॰)

दूरभाष :

०१३५–४३०५९८

देवानुग्रह त्रिदशक महोत्सव प्रसंग

प्रथम आवृत्ति २000 वि॰ सम्वत् २०४० सन् १९८३

द्वितीय आवृत्ति ३000 वि॰ सम्वत् २०५६ सन् १९९९

मूल्य : ५० रुपये

ग्रन्थ प्राप्ति स्थान —

१. श्री कैलास आश्रम, मुनि की रेती, ऋषिकेश-२४९२०१
२. श्री दशनाम संन्यास आश्रम, भूपतवाला, हरिद्वार-२४९४०१
३. श्री कैलास आश्रम, उजेली, उत्तरकाशी-२४९१९३
४. श्री राम आश्रम, समानामण्डी, पटियाला-१४७१०१
५. श्री कैलास विद्यातीर्थ, (आदि शंकराचार्य स्मारक) ६, भाई वीर सिंह मार्ग, नई दिल्ली-११०००१
६. श्री कैलास आश्रम, मॉडल टाऊन, रोहतक - १२४००१
७ श्री कैलास विद्यातीर्थ, गिरियक रोड, राजगीर (नालन्दा)-८०३११६
८. श्री कैलास विद्याधाम, रूप नगर, जम्मू तवी
९. श्री शंकर ब्रह्मविद्याकुटीर, ८३ - ए, द्वारका पुरी, मुजफ्फर नगर-२५१००१

मुद्रक :— नाथ प्रिंटर्ज, जोशी रोड, करोल बाग, नई दिल्ली - ११०००५, दूरभाष - ३५५५५८९

सम्पादकीय

ॐ क्लीं कृष्णाय नमः

श्री कैलास आश्रम शताब्दी समारोह महासमिति की प्रकाशन-श्रृंखलाओं में **'ऐतरेयोपनिषत्'** पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए मुझे स्वाभाविक सन्तोष हो रहा है। श्री कैलास आश्रम के विद्वान् पीठाधीश्वरों की परम्परा से प्राप्त विद्यावाचस्पति स्वामी विष्णुदेवानन्दजी महाराज द्वारा संकलित मुख्य दश उपनिषदों की टिप्पणी आश्रम में लिखी हुई रखी थी। विद्याव्यसनी वर्तमान कैलासपीठाधीश्वर स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज ने इनके प्रकाशन के महत्त्व को समझा और एतदर्थ संकल्प किया। श्री कैलास विद्या प्रेस इस उपनिषद् के प्रकाशन के साथ नवें उपनिषद् को पूर्ण कर चुकी है। अन्तिम **'तैत्तिरीयोपनिषद्'** भी निकट भविष्य में प्रकाश में आने की संभावना है।

ऐतरेयोपनिषत् पैंतीस वेद मन्त्रों से युक्त एक लघुकाय एवं सारगर्भित उपनिषद् है। भगवत्पादाचार्य आदि शङ्कराचार्य ने इस पर भाष्य लिखते समय समकालीन ज्वलन्त विचारोत्तेजक समस्यायों को भी प्रकाश में ला दिया है। ब्रह्मात्मदर्शी का निष्कर्म पारायण होना समाज को जब सह्य नहीं हुआ तो आचार्य को स्पष्ट कहना पड़ा **'न च स नियोक्तुं शक्यते केनचित्'** (पृ. ९) आनन्दगिरिटीकाकार तो उसे और अधिक महत्त्व देते हुए कहते हैं **"तस्यैव सर्वनियोक्तृत्वादित्यर्थः"**। स्थूलदृष्टि वाले संसारी भिक्षाटन को भी कर्म मानते हुए भिक्षुक संन्यासी को तिरस्कृत दृष्टि से देखते थे, भाष्यकार की इस वेदना के प्रति सहानुभूति व्यक्त करते हुए आनन्दगिरि जी लिखते हैं—**"परिभवः पामरैः क्रियमाणस्तिरस्कारः"** (पृ. १४)। बाह्या आडम्बर को **"न लिङ्गं धर्मकारणम्"** के अनुसार टिप्पणकार प्रामाणिक नहीं मानते **"वस्तुतो विविदिषोरेव लिङ्गधारणनियमो न विदुषः"** (पृ. १४)। किन्तु साधन को सच्ची निष्ठा से करना अनिवार्य है **'न चासंपन्नं साधनं कस्यचिदर्थस्य साधनायालम्'** (पृ. १९)।

जब तक शरीर है, तब तक ब्रह्मात्मदर्शी को देहयात्रा हेतु आश्रय चाहिए। इसके लिए स्मृतियों में तो यहाँ तक कहा है **"बुद्ध्वा कर्माणि यमिच्छेत्तमावसेत्"** किन्तु वह सब स्वेच्छाचारिता के लिए नहीं। आचार्य शङ्कर के अनुसार स्वेच्छाचार तो विद्वान् के लिए सर्वथा निन्दनीय है। अपनी श्रेष्ठ भूमिका में विचरण करने से वह शास्त्रोक्त कर्म भी नहीं करता फिर अत्यन्त अज्ञानियों द्वारा होने वाली निषिद्ध चेष्टा होना उससे कैसे संभव है (पृ. २३)।

'नेह नानास्ति किंचन' श्रुति के इस डिण्डिम उद्घोष को आचार्य शंकर प्रत्येक श्रुतियों में अनुप्राणित करते हैं। ऐतरेय उपनिषद् में भी द्वितीय अध्याय के संबन्धभाष्य में कहते हैं कि श्रुतियों में अध्यारोप के लिए सृष्ट्यादि आख्यायिका के जानने से कोई विशेष फल नहीं है, समस्त उपनिषदों का एक ही प्रयोजन है — ब्रह्मात्मैक्य स्वरूप परिज्ञान से अमृत की प्राप्ति। **"स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत"** एवं **"आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्"** इन दोनों ऐतरेय श्रुतियों में आत्मा के सोपाधिक एवं निरुपाधिक स्वरूप का वर्णन है। आदि शंकराचार्य अपने भाष्य में एवं टीकाकार जीव, ईश्वर और निर्विशेषब्रह्म का विश्लेषण अद्वैत वेदान्त की गुत्थियों को सुलझाने की दृष्टि से बड़े मार्मिक ढंग से कहते हैं — **"तत्र जीवोऽहं कर्तेति लोक एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा यजेत स्वर्गकामः, इत्यादिशास्त्रे**

च प्रसिद्धः भोक्ता" (आ. गि. ६३) **"ईश्वरः सर्वज्ञः जगत्कर्ता चेतन आत्मा द्वितीयः यतो वाचो निवर्तन्ते नेति नेतीत्यादिशास्त्रप्रसिद्ध औपनिषदः पुरुषस्तृतीयः"** (भा. ६३)। 'द्रष्टा की दृष्टि का लोप नहीं होता' उपनिषदोक्त यह नित्य दृष्टि है किन्तु बाह्य अनित्य दृष्टि में उपाधि में फंसकर भ्रान्ति से जीव, ईश्वर एवं निर्विशेष ब्रह्म की कल्पना कर ली जाती है। इसी के कारण अनन्तर, अबाह्य सर्वानुभू आत्मा का स्वरूप न समझकर अविद्या-काम और कर्म के वशीभूत हुआ जीव बार-बार घटीयन्त्र के समान आवागमन के चक्कर में पड़ा रहता है। **"तत्त्वमसि"** आदि महावाक्यों को आचार्य मुख से श्रवण कर उसका निरन्तर मनन निदिध्यासन कर सर्वत्र आत्मदर्शन होने का लक्ष्य प्राप्त करने से पूर्व अविद्या की निवृत्ति करनी आवश्यक है। सर्वविध वृत्तियों से भिन्न स्वप्रकाशात्मक सर्वसाक्षी सब वृत्तियों में अनुगत सर्वत्र एक ही आत्मा का अनुसंधान करे, इसी सन्देश को इस उपनिषद् का सार बतलाते हुए आचार्य शंकर अत्यन्त गम्भीरता से इस विषय विवेचन करते हैं।

टीकाकार आनन्दगिरि ने अन्य उपनिषदों की अपेक्षा इस उनिषद् पर विस्तृत एवं भाष्य से अनुप्राणित टीका की है। सर्वप्रथम ही अपनी टीका में उन्होंने **"विद्यारण्य कृत दीपिका"** को दो बार उद्धृत किया है। समकालीन आचार्यों के विचारों को टीकाकार ने स्थान देने का प्रयत्न किया। भाष्य **"शुद्धप्रज्ञानरूपस्य ब्रह्मण उपाधिभूताः"** (पृ. ९५) का व्याख्यान करते हुए टीकाकार लिखते हैं — **"यत उपाधिभूता अत उपलब्ध्यर्था अतो गौण्या वृत्त्या नामधेयानि भवन्तीत्यर्थः"** किन्तु तत्पश्चात् फिर विकल्प प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि श्रुति में संज्ञानादि शब्दों के द्वारा वृत्तियों को नहीं कहा गया है — **"यद्वा श्रुतौ संज्ञानादिशब्दैर्न वृत्तय उच्यन्ते किन्तु संज्ञानादिशब्दा एव लक्षणयाऽभिधीयन्ते"**। टीकाकार की इस शैली को देखते हुए सन्देह होना स्वाभाविक है क्या वे स्वामी शुद्धानन्द जी के शिष्य आनन्दगिरि हैं अथवा अन्य? कैलास आश्रम के विद्वानों में अतिशय प्रतिष्ठित विद्यावाचस्पति स्वामी विष्णु-देवानन्द जी के मत में तो इस ऐतरेयोपनिषत् पर भाष्य की टीका करने वाले स्वामी अभिनवनारायणेन्द्र सरस्वती जी थे।

कैलास आश्रम से प्रकाशित इस संस्करण की अपनी निराली ही उपादेयता है। मन्त्र, भाष्य एवं आनन्दटीका को मोटे टाइप में रखा गया है। मन्त्रों एवं भाष्य पर कैलासपीठाधीश्वर वेदान्त सर्व-दर्शनाचार्य स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज द्वारा रचित "मिताक्षरा" टीका अर्थ को स्पष्ट करने एवं पदशः वेदान्त के प्रति अनन्य निष्ठा सम्पादित करने के लिए अत्यन्त उपयोगी है। वेदान्त के उत्कृष्ट विद्वानों एवं शोधकर्ताओं के लिए विद्यावाचस्पति स्वामी विष्णुदेवानन्द जी महाराज की टिप्पण परम सहायक है।

ग्रन्थ के सम्पादन में उत्तराखण्ड की पवित्र भूमि ऋषिकेश सेवन एवं निरन्तर भगवती भागीरथी के दर्शन का लाभ मिलता रहा, यह सब प्रभु की कृपा एवं महापुरुषों का आशीर्वाद है। अन्त में **'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये''**।

श्रीकृष्णार्पणमस्तु

दुर्गाष्टमी २०४०

भगवदीय

उमेशानन्द

ब्रह्मानन्द आश्रम, ऋषिकेश

प्रस्तावना

❋ दिशन्तु शं मे गुरुपादपांसवः ❋

भारतीय विचारधारा के अनुसार वेद अपौरुषेय है। और पाश्चात्य विचारधारा के अनुसार वेद प्राचीनतम् धर्मग्रन्थ हैं। उनमें ऋग्वेद सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। प्रत्येक वेद के छन्दोबद्ध भाग को मन्त्रभाग कहते हैं और किन मन्त्रों का उपयोग कहाँ होता है, कौन-सा यज्ञ किस प्रकार होता है एवं किस कामना के लिए होता है, इत्यादि विचार जिस भाग में किया गया है, उसे ब्राह्मण भाग कहते हैं। इसका नाम ब्राह्मण इसलिए पड़ गया है क्योंकि ब्रह्म अर्थात् वेद का ज्ञान और विनियोग सुस्पष्ट रूप से उसमें बतलाया गया है । ब्राह्मणों में ही आरण्यक और उपनिषद् भी शमिल हैं। मन्त्रभाग के समान ही ब्राह्मणभाग को प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए अनेकों युक्तियाँ दी गयी हैं। अतः सभी ऋषि, मुनि और आचार्य के मत में "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेद नामधेयम्" (मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का नाम वेद है) दोनों का प्रामाण्य समान ही है।

ऋग्वेद के दो बड़े ब्राह्मण हैं। प्रथम ऐतरेय ब्राह्मण और दूसरा कौषीतकि ब्राह्मण है। ऐतरेय ब्राह्मण में ४० अध्याय हैं और ८ पञ्चिका हैं। ऐतरेय आरण्यक १८ अध्यायों के पाँच भागों में विभक्त है। ब्रह्मचारियों के लिए मन्त्र, गृहस्थों के लिए ब्राह्मण, वानप्रस्थों के लिए आरण्यक और संन्यासियों के लिए उपनिषद् भाग माने गये हैं। जो आरण्य में पढ़ा और सुना जाये, उसे आरण्यक कहते हैं।

सायणाचार्य जी ऐतरेय ब्राह्मण पर भाष्य के प्रारम्भ में लिखते हैं कि एक ऋषि की अनेक पत्नियाँ थीं, जिनमें एक का नाम इतरा था। इतरा के पुत्र का नाम महीदास था। अन्य सपत्नियों के पुत्रों के समान अपने पुत्र महीदास का पिता द्वारा सम्मान न देखकर इतरा ने साश्रुनेत्र हो अपने कुलदेवता भूमि की प्रार्थना की तो प्रसन्न हो भूमि देवी ने उसी यज्ञमण्डप में एक सुन्दर स्थान पर महीदास को प्रतिष्ठित कर उसकी विद्या से प्रसन्न हो वर दिया कि तुम्हारे नाम से ४० अध्यायों का ऐतरेय ब्राह्मण प्रसिद्ध होगा। ऐतरेयारण्यक एवं छान्दोग्योपनिषद् (अ. ३ । १६) में महीदास का नाम आता है।

ऐतरेयारण्यक के द्वितीय आरण्यकान्तर्गत चौथे, पाँचवें और छठे अध्याय को ऐतरेयोपनिषद् कहते हैं। जिन पर भगवत्पाद आद्य शङ्कराचार्य का प्रसन्न एवं गम्भीर भाष्य है। यह उपनिषद् ब्रह्मविद्या प्रधान है। इसके उपोद्घात भाष्य में भगवान् भाष्यकार ने स्पष्ट निर्णय दिया है कि मोक्ष कर्म या कर्मसमुच्चितज्ञान से नहीं मिलता अपितु केवल ब्रह्म के अपरोक्ष ज्ञान से ही मोक्ष मिलता है। साथ ही अत्यन्त समारोह के साथ मोक्ष के साधन ज्ञान का मुख्य अधिकारी सर्वकर्मसंन्यास करने वाले चतुर्थाश्रमी को माना है, अन्य आश्रम वाले ब्रह्मज्ञान के मुख्य अधिकारी नहीं हैं। अतः ब्रह्मज्ञान के लिए सर्वकर्मसंन्यास पूर्वक ही वेदान्त का श्रवण करना चाहिए। गार्हस्थ्य का प्रयोजक गृहविशेष के परिग्रहार्थ कामना ही मानी गयी है। यदि किसी गृहस्थ को जन्मान्तरीय साधनों से चित्त शुद्ध हो जाने के कारण ब्रह्मज्ञान हो गया हो तो कामना के अभाव में उसे भिक्षुकत्व की प्राप्ति स्वतः सिद्ध हो जायगी। "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति" इत्यादि श्रुतियाँ अज्ञानियों के लिए हैं, ब्रह्मज्ञानियों के लिए कोई विधि नहीं है ऐसा दृढ़ निश्चय आचार्य का है। इस प्रकार ज्ञानियों के लिए पारिव्राज्य की अनिवार्यता बतलाकर आचार्य ने ब्रह्मजिज्ञासुओं के लिए उसकी अवश्यकर्तव्यता का विधान भी किया है। एतदर्थ आचार्य ने अनेक श्रुति-स्मृति वाक्यों को उद्धृत किया है। ब्रह्मजिज्ञासु ब्रह्मचारी के लिए चतुर्थाश्रम का प्रतिपादन करते हुए आचार्य ने कहा है कि गार्हस्थ्याश्रम में प्रवेश से पूर्व ब्रह्मचारी के ऊपर ऋणत्रय का भार ही नहीं है। अतः ब्रह्मजिज्ञासा उत्पन्न हो जाने पर ब्रह्मचारी को अतिशीघ्र संन्यास ले लेना चाहिए।

उपर्युक्त सिद्धान्त के दो मुख्य आधार हैं — (१) गृहस्थाश्रम में रहकर ब्रह्मज्ञानोपयोगी साधनों का उपार्जन

करना दुःशक्य है। (२) ज्ञानियों में कामना का अभाव हो जाने से उसका गृहस्थाश्रम में रहना सम्भव नहीं है। बस ये दोनों ही गृहत्याग के मुख्य हेतु हैं। जो गृह में रहकर शम-दमादि साधन सम्पन्न हो सकते हैं और जिन ब्रह्मज्ञानियों को गृह विशेष में रहना बाधक प्रतीत नहीं होता। उनमें वस्तुतः गार्हस्थ्य नहीं है अपितु गार्हस्थ्याभास है। वे स्वरूपतः संन्यासी न होने पर भी आचार्य के सिद्धान्त का ही अनुसरण कर रहे हैं किन्तु ऐसे साधक या ज्ञानी विरले होते हैं।

इस उपनिषद् में तीन अध्याय हैं। उनमें से पहले में ३ खण्ड हैं और शेष में एक-एक खण्ड है। प्रथम अध्याय में कहा है कि सर्गारम्भ में केवल एक आत्मा ही था। उसने संकल्प कर अम्भ (द्युलोक) मरीचि (अन्तरिक्ष) और मर (भूलोक) की रचना कर दी। इन्हीं तीन लोकों में ऊपर के महरादिलोक और नीचे के अतलादि लोक भी निहित हैं। इन लोकों की रचना कर इनके लिए उसी परमात्मा ने लोकपालों की रचना का संकल्प किया। संकल्प द्वारा ही जल से एक पुरुष को रचकर उसे अवयवयुक्त कर दिया। तत्पश्चात् उस विराट् पुरुष के इन्द्रिय, उनके गोलक और इनके अधिष्ठातृदेव उत्पन्न हुए। परमात्मा ने महासमुद्र से उत्पन्न उन देवताओं को क्षुधापिपासादि से युक्त कर दिया। देवताओं ने अपने-अपने निवास के लिए परमात्मा से आयतन की प्रार्थना की। परमात्मा ने उनके आवास के लिए क्रमशः गौ और अश्व का शरीर लाया, जिन्हें देवताओं ने अस्वीकार कर दिया। अन्त में जब मनुष्य शरीर उनके सामने लाया तो उसे देख कर सभी देवताओं ने एक स्वर से मानव देह का अनुमोदन किया और परमात्मा की आज्ञा से उसके भिन्न-भिन्न अवयव में वागादिरूप से प्रविष्ट होकर स्थित हो गये। पुनः देवताओं के लिए परमात्मा ने अन्न को बनाया। देवताओं को देखकर जब अन्न भागने लग गया, तब देवताओं ने उसे वागादि करणों से ग्रहण करना चाहा, किन्तु उसे ग्रहण न कर सके। अन्त में अपान द्वारा देवताओं ने अन्न को ग्रहण कर लिया।

इस प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि के हो जाने पर भी मेरे बिना यह प्रपञ्च व्यर्थ ही है ऐसा विचार कर पुरुष की मूर्धा को विदीर्ण कर उसके द्वारा परमात्मा इस देह में प्रविष्ट हो गया। यह ईक्षण से प्रवेश होने तक कार्य परमात्मा ने किया। इस प्रकार जीवत्व को प्राप्त कर परमात्मा जब भूतों के साथ तादात्म्य हो गया और शास्त्र एवं आचार्य की अनुकम्पा से जब उसे अपने परमार्थ स्वरूप का साक्षात् होता है तब उसे "इदं" रूप से प्रत्यक्ष देखने के कारण उसका नाम इन्द्र हो जाता है। इस सम्पूर्ण आख्यायिका को भाष्यकार ने आत्मबोध कराने के लिए केवल अर्थवादरूप माना है अर्थात् सम्पूर्ण संसार परमात्मा के संकल्प से होने के कारण अद्वय परमात्म स्वरूप ही है।

द्वितीय अध्याय में आत्मज्ञान के साधन वैराग्य उत्पन्न कराने के लिए जीव की तीन अवस्थाओं का वर्णन किया है। पुनः जीवके तीन जन्म बतलाये गये हैं। (१) माता की कुक्षी में वीर्यरूप से प्रविष्ट होना प्रथम जन्म है। (२) बालक रूप से उत्पन्न होना द्वितीय जन्म और (३) मरकर पुनः शरीर ग्रहण करना पिता का तृतीय जन्म कहा गया है। पिता और पुत्र का अभेद होने के कारण ही पिता के पुनर्जन्म को भी पुत्र का तृतीय जन्म कहा गया है। गर्भस्थ वामदेव ने अपने अनेक जन्मों का अनुभव बतलाते हुए कहा था कि लोहमय शृंखलाओं के समान मैं शतशः शरीरों में बन्दी रह चुका हूँ किन्तु आत्मज्ञान के प्रभाव से ऋषि वामदेव देहपात के पश्चात् अमर हो गये थे। अतः भूत इन्द्रियादि सम्पूर्ण अनात्मा से आत्मा को सर्वथा असंग अपरोक्ष अनुभव कर लेना ही अमरपद प्राप्ति का साधन है। ऐसा द्वितीय अध्याय में बतलाया गया है।

तृतीय अध्याय में उसी का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि हृदय, मन आदि प्रज्ञान के ही नाम हैं। यह प्रज्ञान ही ब्रह्मादि देव, पञ्चमहाभूत तथा जरायुजाति जन्तु रूप है। यही सम्पूर्ण चराचर जगद्रूप भी है। इस प्रकार सम्पूर्ण संसार प्रज्ञान में स्थित है प्रज्ञान से प्रेरित होता है और स्वयं भी प्रज्ञानस्वरूप ही है। यह प्रज्ञान ही ब्रह्म है। जो इस प्रकार अपरोक्ष अनुभव कर लेता है, वह इस लोक से उत्क्रमण कर परमात्म स्वरूप हो सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त कर अमर हो जाता है अमर हो जाता है यह इस उपनिषद् का संक्षिप्त वर्णन है।

जिसमें उपक्रमादि षड्विधतात्पर्य निर्णायक लिङ्गों से देखने पर वेदान्तैक वेद्यअद्वय ब्रह्मतत्त्व में ही इसका पर्यवसान होता है। यथा "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" (१।१।१) (सृष्टि से पूर्व एक आत्मा ही था) यह उपक्रम और "प्रज्ञानं ब्रह्म" (३।१।३) प्रज्ञान पद लक्ष्य जीव साक्षी चैतन्य ब्रह्म है। यह उपसंहार है। दोनों की एकवाक्यता है। (२) अभ्यास— "स इमान्लोकानसृजत" (१।१।२ उस परमात्मा ने लोकों की सृष्टि की) "स ईक्षतेमे नु लोका लोकपालान्नु सृजा इति" (१।१।३ उसने संकल्प किया। ये लोक हैं अब लोकपालों की सृष्टि करूँ) "तस्मादिदन्द्रो नाम" (१।३।१४ इसलिए इन्द्र नाम हो गया, ये अभ्यास हैं। (३) अपूर्वता—"स जातो भूतान्यभिव्यैख्यत्" (१।३।१३ उत्पन्न होकर उसने भूतों को स्पष्ट देखा) "सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रम्" (३।५।३ सभी भूत चैतन्य नेता वाले हैं) इन वाक्यों से अपूर्वता दिखलायी गयी है।

(४) फल— "स एतेन प्रज्ञेनात्मनाऽस्माल्लोकादुत्क्रम्यामुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान्कामानाप्त्वाऽमृतः समभवत् समभवत्" (३।१।४ वह ज्ञानरूप से इस लोक को उत्क्रमणकर मोक्षस्वरूप लोक में सम्पूर्ण कामनाओं को पाकर अमर हो गया इस वाक्य द्वारा स्पष्टतया फल बतलाया गया है। (५) अर्थवाद—"ता एता देवता सृष्टाः" (१।२।१ उन उत्पन्न देवताओं ने स्तुति की) "गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जन्मानि विश्वा" (२।१।५ मातृगर्भ में स्थित वामदेव ने इन देवों के सभी जन्मों को जान लिया) इन वाक्यों से अद्वय ब्रह्म की स्तुति की गयी है। यही अर्थवाद है। (६) उपपत्ति—"स इमान्लोकानसृजत" (१।१।२) यहाँ से प्रारम्भ कर "स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत" (१।३।१२ वह परमात्मा इसी मस्तकस्थ सीमा को विदीर्ण कर उस मार्ग से शरीर में प्रविष्ट हो गया) इन वाक्यों से उपपत्ति (युक्ति) दी गयी है। इन सभी लिङ्गों से इसका पर्यवसान ब्रह्म में निश्चित होता है।

❀ प्रस्तुत प्रकाशन का वैशिष्ट्य

कैलास आश्रम शताब्दी प्रसङ्ग पर प्रस्तावित प्रकाशनों में ऐतरेयोपनिषद् का प्रकाशन भी अपना विशिष्ट स्थान रखता है। शाङ्कर भाष्य पर हिन्दी व्याख्या लिखते समय ब्रह्मचारी रामानन्द जी शास्त्री ने हमारे विचारों को लिपिबद्ध करने में अपने बुद्धि कौशल का अपूर्व परिचय दिया। कैलास आश्रम की प्राचीन टिप्पणों की प्रेसकापी भी इन्होंने की है। डॉ० उमेशानन्द जी शास्त्री ने इसका सम्पादन अत्यन्त प्रयत्न पूर्वक किया है। मूल मन्त्र का हिन्दी अनुवाद शाङ्कर भाष्य की आनन्दगिरि टीका और हिन्दी व्याख्या मूल शाङ्कर भाष्य एवं आनन्द गिरि टीका की गोविन्दप्रसादिनी टिप्पणी यथा समय नियत पृष्ठ में ही पाठकों के सौविध्य के लिए रखी गयी है। अतः इससे पूर्व इस उपनिषद् के समस्त प्रकाशनों की अपेक्षा इसका महत्त्वपूर्ण स्थान होगा जिसे विज्ञ पाठक स्वयं ही समझेंगे। इसमें दी गयी समस्त सामग्री से सम्पन्न प्रकाशन का लाभ पाठक अवश्य उठावें। एतदर्थ सर्वान्तर्यामी परमातमा से हार्दिक प्रार्थना है और उपर्युक्त नामाङ्कित उभय महानुभावों की भूरिशः मङ्गल कामना करते हैं जिन्होंने हमारे संकल्प को साकार बनाने में अपनी पूर्णशक्ति लगा दी है। इत्यों शम्।

अनन्त चतुर्दशी
वि० सं० २०४०

भगवत्पादीय
आचार्य महामण्डलेश्वर स्वामी विद्यानन्द गिरि
कैलास आश्रम ब्रह्मविद्या पीठ ऋषिकेश

द्वितीय संस्करण पर दो शब्द

प्रस्तुत द्वितीय संस्करण देवानुग्रह त्रिदशक महोत्सव प्रसंग पर प्रकाशित हो रहा है। इसकी कम्पोज़िङ्ग कम्प्यूटर से होने से छपाई विशुद्ध एवं स्पष्ट हो पाठकों को सौविध्य प्रदान करेगी। इसके सम्पादन में श्री स्वर्ण लाल तुली का सहयोग सराहनीय है। इत्योंशम्।

वैशाख पूर्णमासी २०५६ वि०

परमादर्श आचार्य म.मं. स्वामी विद्यानन्द गिरि

ॐ

विषयानुक्रमणिका

प्रथम अध्याय प्रथम खण्ड

प्रथम अध्याय द्वितीय खण्ड

प्रथम अध्याय तृतीय खण्ड

द्वितीय अध्याय प्रथम खण्ड

तृतीय अध्याय प्रथम खण्ड

ॐ तत्सद्ब्रह्मणे नमः।

ऋग्ब्राह्मणारण्यकाण्डान्तर्गतद्वितीयारण्यकस्था

* * *

ऐतरेयोपनिषत्

सटिप्पणसंस्कृतहिन्दीटीकाद्वयसंवलितशाङ्करभाष्यसमेता

[1]परिसमाप्तं कर्म सहा[2]परब्रह्मविषयविज्ञानेन। सैषा कर्मणो ज्ञानसहितस्य परा गतिरुक्थविज्ञानद्वारेणोपसंहृता। "एतत्सत्यं ब्रह्मप्राणाख्यम्" (ऐ. आ. २/१/५) "एष एको देवः" "एतस्यैव प्राणस्य सर्वे देवा विभूतयः" (ऐ. आ. २/१/७) "एतस्य प्राणस्याऽऽत्मभावं गच्छन्देवता

आत्मा वा इदमित्यादिना केवलात्मविद्यारम्भस्यावसरं वक्तुं वृत्तं कीर्तयति-परिसमाप्तमिति। तत्परिसमाप्तिः कथं गम्यत इत्याशङ्क्य तत्फलोपसंहारादित्याह – सैषेति। परा गतिः परं गन्तव्यं प्राप्तव्यं फलमित्यर्थः। उपसंहारमेव वाक्योदाहरणेन दर्शयति – एतदिति। [3]तत्र सह सर्वेण भोज्येन संयुक्तोऽध्यात्माधिदैवलक्षणः प्राणः सत्यैकशब्दवाच्यो भवतीति [4]प्राणस्वरूपमनेन वाक्येनोपसंहृतमित्यर्थः। [5]अनेन प्राण एक एवेत्युक्तमित्याह – एष इति। तर्हि [6]वागग्न्यादयो देवाः क इत्याशङ्क्य "तस्य वाक्तन्तिरथातो विभूतयोऽस्य पुरुषस्य" इत्यादिना प्राणस्यैव विभूतयो विस्तारा इत्युक्तमित्याह – एतस्यैवेति। एवं सर्वात्मकप्राणस्याऽऽत्मत्वेन विज्ञानात्कर्मसहितात्सर्वदेवतात्मकप्राणप्राप्तिलक्षणं फलं "प्रज्ञामयो देवतामयो ब्रह्ममयोऽमृतमयः [7]संभूय देवता अप्येति य एवं वेद" इत्यनेन वाक्येनोपसंहृतमित्याह – एतस्येति। तथा च ज्ञानसहितेन कर्मणा केवलात्मस्वरूपावस्थान लक्षणमोक्षस्यासिद्धेस्तत्सिद्ध्यर्थं केवलात्मविद्यारम्भस्येदानीमबसर इति भावः। [8]अत्रान्तरे सर्वात्मकसूत्रात्म-

---

यहाँ तक हिरण्यगर्भ विषयक उपासना के सहित कर्म का वर्णन परिसमाप्त हो गया। ज्ञान के सहित कर्म की श्रेष्ठ गति का उपसंहार उक्त विज्ञान (प्राणोपासना) द्वारा उपसंहार किया गया। (वहाँ मूल वाक्य ये हैं) "यह प्राण नामक सत्य ब्रह्म है" "यह एक देव है" "सभी देव इस प्राण की ही विभूतियाँ हैं" "इस प्राण के तादात्म्य को प्राप्त हुआ उपासक देवता में लीन हो जाता

ॐ

भूधरपाराशरिणा विष्णुदेवानन्देन संकलितम्।
टिप्पणमिह निजभातं श्रीगुरुपादोक्तकर्बुरितम्।।

१. परिसमाप्तमिति – ऋग्ब्राह्मणारण्यकाण्डीय इतः पूर्वस्मिन् ग्रन्थभागे वृत्तमित्यर्थः। २. अपरब्रह्मविषयविज्ञानेनेति हिरण्यगर्भोपास्त्येत्यर्थः। ३. तत्रेति पूर्वग्रन्थोक्तमर्थजातं परामृश्यते। उपसंहारप्रस्ताव इति वार्थः। ४. प्राणस्वरूपं फलीभूतमित्यर्थः। ५. अनेनेति एष इत्यादिवाक्येनेत्यर्थः। ६. वागग्न्यादय इति अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशदित्यादिना वक्ष्यमाणा इत्यर्थः। ७. सम्भूयेति – भूत्वेत्यर्थः। मिलित्वा वा हिरण्यगर्भात्मनाऽवस्थिताः सर्वा देवता अप्येतीत्यर्थः। ८. अत्रान्तरे – अत्रावसर इत्यर्थः।

अप्येति" (ऐ. आ. २-२-४) इत्युक्तम। सोऽयं देवताप्ययलक्षणः परः पुरुषार्थः। एष मोक्षः। स चायं यथोक्तेन ज्ञानकर्मसमुच्चयसाधनेन प्राप्तव्यो नातः परमस्तीत्येके प्रतिपन्नास्ता[1]न्निराचिकीर्षु[2]रुत्तरं केवलात्मज्ञान[3]विधानार्थम् 'आत्मा वा इदम्' इत्याद्याह।

कथं पुनरकर्मसंबन्धिकेवलात्मविज्ञानविधानार्थ उत्तरो ग्रन्थ इति गम्यते।

प्राप्तिव्यतिरिक्तमोक्षस्याभावात्तदर्थं केवलात्मविद्यारम्भो नयुक्त इति [4]केषांचिन्मतमुत्थापयति – सोऽयमिति। एतस्यैव विषयादिमतः सुखरूपत्वेन पुरुषार्थत्वान्मोक्षत्वं न निर्विषयस्य केवलात्मस्वरूपावस्थानस्येत्याह – एष इति। अयमपि चेन्मोक्षः केवलात्मज्ञानेन साध्यते तदा तदारम्भोऽर्थवानित्याशङ्क्य सविशेषेणैव साधनेन [5]सिद्धिर्युक्तेत्याह – स चेति। आत्मनः सविशेषत्वेन केवलात्मविद्याया अभावादपि न तस्या हेतुत्वमित्याह – नातः परमिति। तन्मतं प्रदर्श्य तन्निराकरणार्थत्वेन केवलात्मविद्यावाक्यमवतारयति – तानिति। केवलात्मज्ञानेति [6]निर्विशेषा[7]त्मविषयत्वम[8]कर्मिनिष्ठत्वं [9]कर्मानङ्गत्वलक्षणं [10]कर्मासंबन्धित्वं च कैवल्य[11]मिह विवक्षितमित्यर्थः।

ननु "आत्मा वा इदम्" [12]इत्यादि कथं केवलात्मविषयं "स इमाँल्लोकानसृजत" इति लोकसृष्टिप्रतीतेः। तस्याश्च सविशेषाहिरण्यगर्भादिकर्तृकत्वेन पुराणेषु प्रसिद्धेः। ताभ्यो गामानयदित्यादिव्यवहाराणां लोके सविशेषविषयत्वप्रसिद्धेः। पूर्वत्र "अथातो [13]रेतसः सृष्टिः" "प्रजापते रेतो देवाः" इत्यत्र प्रजापतिशब्दितस्य हिरण्यगर्भस्य प्रस्तुतत्वाच्च [14]तस्य तद्विषयत्वस्यौचित्यादित्यात्मगृहीतिरित्यधिकरणपूर्वपक्षन्यायेन शङ्कते – कथमिति। [15]सविशेषविषयत्वे सत्यात्मविद्यायाः कर्मासंबन्धोऽप्यसिद्ध इत्यभिप्रेत्योक्तमकर्मसंबन्धीति। "[16]आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" इत्यद्वितीयात्मोपक्रमात्। "एष

है" ऐसा कहा गया है। वहाँ पर यह देवता में विलय होना ही परम पुरुषार्थ है, यही मोक्ष है और वही यह देवता में विलयरूप मोक्ष इस पूर्वोक्त ज्ञान-कर्म समुच्चयरूप साधन से ही प्राप्त करने योग्य है। इससे परे और कुछ भी नहीं है, ऐसा कुछ लोग समझते हैं। उन समुच्चयवादियों का निराकरण करने की इच्छा से केवल आत्मविज्ञान का विधान करने के लिए 'आत्मा वा इदम्' इत्यादि उत्तर ग्रन्थ कहा जाता है।

पूर्वपक्ष :– यह कैसे जाना जाता है कि आगे का ग्रन्थ सर्वथा कर्म सम्बन्ध से रहित केवल

---

१. निराचिकीर्षुर्वेदपुरुषः। २. उत्तरमात्मा वा इदमित्यादि वाक्यजातमध्यायत्रितयं वाऽऽहेति सम्बन्धः। ३. विधानमभिधानम्। ४. केषांचिद्धैरण्यगर्भाणामित्यर्थः। ५. सिद्धिरिति सविशेषस्य मोक्षस्येति शेषः। ६. वक्ष्यमाणोपयोगित्वेन ज्ञानस्य कैवल्यं चतुर्धा विभजते – निर्विशेषेत्यादिना। ७. केवलेत्यात्मविशेषणं विषयत्वं चात्मषष्ठ्यर्थ इत्याशयेनाह – निर्विशेषात्मविषयत्वमिति। ८. आश्रयत्वस्य षष्ठ्यर्थत्वपक्षेणाह – अकर्मिनिष्ठत्वामिति। संन्याससामानाधिकरण्यमित्यर्थः। अत्र च विषयाश्रयकैवल्यप्रयुक्तमेव ज्ञानस्य कैवल्यं पारम्परिकमिति भावः। ९. साक्षादेवज्ञानस्य कैवल्यमात्मा चविषय इति पक्षेणाह – कर्मानङ्गत्वलक्षणमिति। १०. तत्रैवाश्रय आत्मेतिमतेनाह – कर्मासंबन्धित्वमिति। कर्मासमानाधिकरणमित्यर्थः। ११. इहेति वाक्ये ज्ञाने वेत्यर्थः। १२. इत्यादि वाक्यमित्यर्थः। १३. रेतसः कार्यस्य सृष्टिरुत्पत्तिरुच्यत इत्यर्थः। १४. आत्मा वा इत्यादिः। १५. केवलपदेन पौनरुक्तं परिजिहीर्षुराह – सविशेषविषयत्व इत्यादि। १६. तात्पर्यग्राहकाणि लिङ्गान्यनुक्रामति – आत्मा वा इत्यादिना।

अन्यार्थानवगमात्। तथा च पूर्वोक्तानां देवतानामग्न्यादीनां संसारित्वं दर्शयिष्यत्यशनायादिदोषवत्त्वेन तमशनापिपासाभ्यामन्ववार्जदित्यादिना। अशनायादिमत्सर्वं संसार एव परस्य तु ब्रह्मणोऽशनायाद्यत्ययश्रुतेः। भवत्वेवं केवलात्मज्ञानं मोक्षसाधनं न

ब्रह्मैष इन्द्रः" इत्याद्यनुक्रम्य "सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितम्" इति प्रज्ञानशब्दितप्रत्यगात्माधिष्ठानत्वेन तद्व्यतिरेकेण ब्रह्मशब्दितहिरण्यगर्भादिप्रपञ्चस्याभावमुक्त्वा प्रज्ञानं ब्रह्मेत्यद्वितीयात्मनोपसंहारात् "स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततममपश्यत्" इति [1]मध्ये परामर्शाद्। ब्रह्मात्माद्वितीयत्वस्य मानान्तरा गम्यत्वेनापूर्वत्वादमुष्मिन्स्वर्गे लोके सर्वान्कामानाप्त्वाऽमृतः समभवदिति स्वर्गशब्दितनिरतिशयसुखात्मकब्रह्मणैक्येन स्थितस्य तदंशभूतवैषयिकसर्वानन्दप्राप्तिलक्षणफलोक्तेः। सृष्ट्याद्यर्थवादात् "[2]स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत" इति प्रवेशोक्तेः। "तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्नाः" इति जाग्रदाद्यवस्थात्रयस्य स्वप्नत्वेन [3]मिथ्यात्वोक्त्युपपत्तेश्च। निर्विशेषाद्वितीयात्मपरत्वावगमेन ग्रन्थस्यार्थान्तरशंकानवकाशाल्लोकादिसृष्ट्युक्तेश्चाध्यारोपापवादाभ्यामुक्तात्मप्रतिपत्त्यर्थमात्मन्य[4]ध्यारोपातपरमात्मैवेहाऽऽत्मशब्देन गृह्यत इतरवत्। यथेतरेषु सृष्टिश्रवणेषु "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः" इत्येवमादिषु परस्याऽऽत्मनो ग्रहणं यथा वेतरस्मिँल्लौकिक आत्मशब्दप्रयोगे प्रत्यगात्मैव मुख्य आत्मशब्देन गृह्यते तथेहापि भवितुमर्हति। कुतः। [5]वाक्यार्थदर्शनात्। "आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरादि"त्यधिकरणसिद्धान्तन्यायेन केवलात्मपरत्वनिश्चयान्न सविशेषपरत्वमुत्तरग्रन्थस्येत्याह — अन्यार्थेति। यच्चैष एव मोक्ष इत्युक्तं तत्राऽऽह — तथा चेति। [6]तथा संसारित्वं च दर्शयिष्यतीत्यन्वयः। तं हिरण्यगर्भस्य स्थूलं रूपं वैराजं पिण्डमशनायापिपासाभ्यां संयोजितवानीश्वर इति श्रुत्यर्थः। अशनायादिमत्त्वेऽपि निरतिशयसुखवत्त्वेन देवताभावस्य मोक्षत्वं स्यादित्यत आह — अशनायादीति। अशनायादेर्दुःख[7]नियतत्वान्निरतिशयसुखवत्त्वं तस्यासिद्धमिति संसारित्वमित्यर्थः। यच्च निर्विशेषात्मस्वरूपावस्थानस्य विषयादिरहितत्वेन न मोक्षत्वमिति तदसत्। [8]तस्य योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येतीत्यशनायाद्यत्ययश्रुतेस्तन्नियतदुःखाप्रसक्तेः। [9]स्वतश्च "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्" इति श्रुत्यन्तरादमुष्मिन्स्वर्गे लोक इतीहाप्यानन्दरूपतावगमात्स्वर्गशब्दस्य सुखसामान्यवाचित्वात् "अनन्ते स्वर्गे लोके ब्रह्मविदः स्वर्गं लोकमित [10]ऊर्ध्वं विमुक्ताः" इत्यादिश्रुतिषु ब्रह्मानन्दे स्वर्गशब्दप्रयोगाच्च। [11]तस्य विषयाभावेऽपि पुरुषार्थत्वान्मोक्षत्वमित्याह — परस्य त्विति। एवं निर्विशेषात्मविद्याया मोक्ष साधनत्वमङ्गीकृत्य तस्या अकर्मिनिष्ठत्वनियमरूपं कैवल्यं न संभवतीति वदन्संन्यासमाक्षिपति — भव-

---

आत्मज्ञान का ही विधान करने के लिए है? सिद्धान्ती :— क्योंकि ब्रह्मज्ञान के अतिरिक्त किसी अन्य अर्थ का बोध यहाँ पर नहीं होता है। इसके अतिरिक्त श्रुति "उसे भूख और प्यास से युक्त कर दिया" इत्यादि वाक्यों द्वारा उन अग्नि आदि पूर्वोक्त देवताओं को क्षुधादि से युक्त बतलाते हुए उनमें

---

१. मध्ये परामर्शादित्यभ्यासोक्तिः। २. अर्थवादत्वं साधयति स एमित्यादिना। प्रवेशोक्तिशेषत्वात्सृष्ट्यादेरर्थवादत्वमिति भावः। ३. मिथ्यात्वोक्तिरूपोपपत्तेरित्यर्थः। ४. आध्यारोपरूपतयाऽविवक्षितत्वादिति यावत्। ५. उत्तरादिति हेतुभागार्थमाह — वाक्यार्थदर्शनादिति। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इत्याद्युत्तरवाक्यार्थस्य परमात्मपरिग्रहानुगुण्यदर्शनादिति यावत्। ६. तथा सतीत्यर्थस्यानुपयुक्तत्वादेव चकारं भिन्नक्रमेण योजयति — तथेत्यादिना। ७. नियतत्वाद्व्याप्तत्वात्। ८. तस्य — निर्विशेषात्मस्वरूपेणावस्थानस्येत्यर्थः। ९. दुःखशून्यतामुक्त्वा सुखरूपतामाह — स्वतश्चेत्यादिना। १०. ऊर्ध्व इति श्रौतपाठः। ११. तस्य निर्विशेषात्मस्वरूपावस्थानस्य।

त्वत्राकर्म्येवाधिक्रियते। विशेषाश्रवणात्। अकर्मिण आश्रम्यन्तरस्येहाश्रवणात्। कर्म च बृहतीसहस्रलक्षणं प्रस्तुत्यानन्तरमेवाऽऽत्मज्ञानं प्रारभ्यते। तस्मात्कर्म्येवाधिक्रियते।

न च कर्मासंबन्ध्यात्मविज्ञानं पूर्ववदन्त उपसंहारात्। यथा कर्मसंबन्धिनः पुरुषस्य सूर्यात्मनः स्थावरजङ्गमादिसर्वप्राण्यात्मत्वमुक्तं ब्राह्मणेन मन्त्रेण च 'सूर्य आत्मा' (ऐ. आ. २-२-४) इत्यादिना, तथैव "एष ब्रह्मैष इन्द्रः" इत्याद्युपक्रम्य सर्वप्राण्यात्मत्वम्। यच्च स्थावरं सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रमित्युपसंहरिष्यति। तथा च [1]संहितोपनिषदि – "एतं ह्येव बह्वृचा महत्युक्थे

त्विति। विशेषाश्रवणमेव स्फोटयति – अकर्मिण इति। संन्यासिन इत्यर्थः। न केवलं विशेषाश्रवणं किंतु संनिधानात्कर्मिणः प्रतीतेः कर्मसंबन्धित्वनियमश्रवणं चास्तीत्याह – कर्म चेति। तथा च तद्द्वारा कर्मी संनिहित इत्यर्थः। तस्मादिति। ततो न कर्मत्यागरूपसंन्यासाश्रमोऽस्तीत्यर्थः।

एवमात्मविद्यां [2]केवलां कर्मासंबन्धिनीमङ्गीकृत्य तस्या अकर्मिनिष्ठत्वनियमौ निराकृतः। इदानीमङ्गीकारं परित्यजति – न चेति। पूर्वत्र कर्मसंबन्धिज्ञानविषयस्य सर्वात्मत्वोक्तेरेष ब्रह्मेत्यादिनाऽत्रापि सर्वात्मत्वोक्तेस्तेनैव लिङ्गेनास्याप्यात्मज्ञानस्य कर्मसंबन्धित्वानुमानाद्वक्ष्यमाणस्याऽऽत्मज्ञानस्य न कर्मासंबन्धित्वमित्यर्थः। संग्रहवाक्यं विवृणोति – यथेत्यादिना। कर्मसंबन्धिन इति। तस्य "[3]एष हीमं लोकमभ्यार्चत्" "[4]पुरुषरूपेण य एष तपति" इत्यादिना सूर्यात्मत्वमुक्त्वा तस्य सर्वात्मत्वं "तस्माच्छतर्चिन इत्याचक्षत [5]एतमेव सन्तम्" इत्यादिना "प्राण ऋच इत्येवं विद्यात्" इत्यन्तेन "प्राणो वै सर्वाणि भूतानि च" इत्यनेन चोक्तमित्यर्थः। [6]जगतो जङ्गमस्य तस्थुषः स्थावरस्य सूर्य आत्मेति मन्त्रार्थः। प्रज्ञानेत्रमिति। प्रज्ञाशब्दितब्रह्मनेतृकमित्यर्थः। [7]संदंशन्यायेनाप्यस्य कर्मसंबन्ध्यात्मविषयत्वमिति वदन्सर्वात्मत्वलिङ्गस्य कर्मसंबन्ध्यात्मनियतत्वमाह – तथा चेति। तथा संहितोपनिषदि चेति

संसारित्व भी दिखलाएगी। क्षुधादि संसारधर्मों से युक्त संसार में ही होते हैं, परब्रह्म तो भूख-प्यासादि संसारधर्मों से अतीत है, ऐसी श्रुति है।

पूर्वपक्ष :– इस प्रकार केवल आत्मज्ञान मोक्ष का साधन हो, ऐसा मान लेने पर भी उसमें केवल कर्म त्यागी का ही अधिकार है, ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि ऐसा मानने में कोई विशेष श्रुति नहीं है। यहाँ पर कर्म त्यागी किसी आश्रमान्तर का श्रवण नहीं होता और बृहती सहस्र नामक कर्म का प्रसंग प्रारम्भ कर तदन्तर ही आत्मज्ञान का प्रंसग प्रारम्भ किया गया है। अतः कर्म में अधिकृत पुरुष का ही आत्मज्ञान में अधिकार है (ऐसा जान पड़ता है) इसके अतिरिक्त आत्मज्ञान कर्म से सर्वथा असम्बद्ध है, ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि यहाँ भी अन्त में पूर्व की भाँति ही उसका उपसंहार किया गया है, जैसे "सूर्य जंगम और स्थावर का आत्मा है" इस वाक्य द्वारा ब्राह्मण मन्त्र ने (सूर्य मण्डलान्त-

१. संहितोपनिषदीति – इतोऽधरारण्यकस्थेयमुपनिषट्टीकायां संदंशोक्तेरित्यवगन्तव्यम्। अधरेति पूर्वेत्यर्थः। २. केवलां-निर्विशेषात्मविषयामित्यर्थः। ३. एष हि सूर्य एवेमं लोकं मनुष्यदेहमभिश्रित्यार्चत् – ऋगादिविहितकर्माण्यन्वतिष्ठदिति यावत्। ४. पुरुषरूपेणेमं लोकमभ्यार्चदागच्छदित्यर्थ इत्यपि वदन्ति। ५. एतमेकमेव सूर्यं सन्तं शतमृग्वन्तर इत्याचक्षत इत्यर्थः। ६. आदिशब्दग्राह्यमन्त्रशेषं व्याचष्टे – जगत इत्यादिना। ७. संदंशेति पूर्वोत्तरग्रन्थसमानविषयतामध्यमग्रन्थस्य नेयत्वं संदंशन्यायार्थः।

मीमांसन्ते" (ऐ. आ. ३-२-३) इत्यादिना कर्मसंबन्धित्वमुक्त्वा "सर्वेषु भूतेष्वेतमेव ब्रह्मेत्याचक्षते" (ऐ. आ. ३-२-३) इत्युपसंहरति। तथा तस्यैव "योऽयमशरीरः प्रज्ञात्मा" (ऐ. आ. ३-२-३) इत्युक्तस्य यश्चासावादित्य एकमेव तदिति विद्यादित्येकत्वमुक्तम्। इहापि कोऽयमात्मेत्युपक्रम्य प्रज्ञात्मत्वमेव 'प्रज्ञानं ब्रह्म' इति दर्शयिष्यति। तस्मान्नाकर्मसंबन्ध्यात्मज्ञानम्।

पुनरुक्त्याऽऽनर्थक्यमिति चेत्, "प्राणो वा अहमस्म्यृषे" (ऐ. आ. २-२-३) इत्यादिब्राह्मणेन "सूर्य आत्मा" (ऐ. आ. २-२-४) इति मन्त्रेण च निर्धारितस्याऽऽत्मन "आत्मा वा इदम्" इत्यादिब्राह्मणेन 'कोऽयमात्मा'इति प्रश्नपूर्वकं पुनर्निर्धारणं पुनरुक्तमनर्थकमिति चेत्। न। तस्यैव धर्मान्तरविशेषनिर्धारणार्थत्वान्न पुनरुक्ततादोषः। कथम्? तस्यैव कर्मसंबन्धिनो जगत्सृष्टिस्थिति-

---

चकारान्वयः। महत्युक्थे बृहतीसहस्राख्ये [1]शस्त्र एतं प्रकृतमात्मानमृग्वेदिनो विचारयन्तीति श्रुत्यर्थः। संहितोपनिषदि प्रज्ञात्मेत्युक्तस्याऽऽत्मनो यो यज्ञस्यो[2]ल्बणं पश्येदित्यादिवाक्यपर्यालोचनया कर्मसंबन्धप्रतीतेरस्यापि प्रज्ञात्मत्वोक्त्या च कर्मसंबन्धावगमात्तज्ज्ञानस्य कर्मसंबन्धित्वमित्याह — तथा तस्येति। शङ्कामुपसंहरति — तस्मादिति।

शङ्कावाद्येव सिद्धान्त्याशङ्कामाशङ्कते — पुनरुक्तीति। संग्रहवाक्यं विवृणोति — प्राणो वा इत्यादिना। पूर्वोत्तरब्राह्मणयोरेकार्थत्वे वक्ष्यमाणमपि प्राणात्मविषयं स्यात्तच्च निर्धारितमिति पुनरुक्तमित्यर्थः। स एवाऽऽशङ्कां परिहरति — न, तस्येति। [3]तमेव प्रश्नपूर्वकं विवृणोति — कथमित्यादिना।

कीर्ति) सूर्य के आत्मभाव को प्राप्त हुए कर्म सम्बन्धी पुरुष को स्थावर-जंगमादि समस्त प्राणियों का आत्मा कहा है, वैसे ही "यह ब्रह्मा है, यह इन्द्र है" इत्यादि मन्त्र से सम्पूर्ण प्राणियों के आत्मस्वरूपत्व का प्रसंग प्रारम्भ कर उसका उपसंहार "जो कुछ स्थावर जंगम है, वह सब चेतन द्वारा प्रवृत्त होता है" इत्यादि वाक्य द्वारा श्रुति उपसंहार करेगी। अतः देव उपासना की भाँति 'यह आत्मज्ञान भी कर्मी से सम्बन्धित है' ऐसा अनुमान होता है।

इसी प्रकार संहितोपनिषद् में भी "इसी को ऋग्वेदी बृहती सहस्र नामक सत्र में विचारते हैं" इत्यादि श्रुति से उसका कर्म के साथ सम्बन्ध बतलाकर "सम्पूर्ण भूतों में इसी को ब्रह्म ऐसा कहते हैं" इस प्रकार उपसंहार किया गया है और "जो यह शरीर-रहित चेतन आत्मा है" इस प्रकार बतलाते हुए, उसी आत्मा का "जो यह सूर्य के अन्तर्गत है, वह एक ही है ऐसा जानें" इस वाक्य द्वारा एकत्व कहा गया है और इस उपनिषद् में भी "यह आत्मा कौन है" इस प्रकार प्रसंग को प्रारम्भ कर "प्रज्ञान ब्रह्म है" इस वाक्य से उसका प्रज्ञास्वरूपत्व ही दिखायेंगे। अतः आत्मज्ञान कर्मत्यागी से संबद्ध नहीं है।

यदि कहो कि पूर्व कथित कर्म का पुनः कथन करने से पुनरुक्ति होने के कारण यह प्रकरण व्यर्थ पड़ जाएगा; कैसे? "हे ऋषे! मैं निःसन्देह प्राण ही तो हूँ" इत्यादि ब्राह्मण वाक्य से तथा "सूर्य आत्मा है" इत्यादि मन्त्र वाक्य से निश्चय किए आत्मा का "यह आत्मा कौन है" इस प्रकार प्रश्न पूर्वक "सृष्टि से पहले यह सब आत्मा ही था" इस प्रकार निश्चय करना पुनरुक्ति है और वह निरर्थक है। यदि कोई ऐसा कहे तो वह ठीक नहीं है क्योंकि पूर्व से निश्चय किए गए आत्मा के किसी अन्य विशेष धर्म का निश्चय करने के लिए पूर्वोक्त प्रसंग होने से यहाँ पर पुनरुक्ति दोष नहीं है। कैसे दोष नहीं है, इसी को बतलाते हैं। उस कर्म सम्बन्धी आत्मा के ही जगत् सृष्टि, स्थिति और संहार

---

१. शस्त्र इति गीतिरहितं स्तोत्रमेव शस्त्रम्। २. उल्बमुत्कटं फलादीत्यर्थः। ३. तमेव धर्मान्तरविशेषमेवेत्यर्थः।

संहारादिधर्मविशेषनिर्धारणार्थत्वात्। केवलोपास्त्यर्थत्वाद्वा। अथवाऽऽत्मेत्यादिपरो ग्रन्थसंदर्भ आत्मनः [1]कर्मिणः कर्मणोऽन्यत्रोपासनाऽप्राप्तौ कर्मप्रस्तावेऽविहितत्वात्केवलोऽप्यात्मोपास्य इत्येवमर्थः। भेदाभेदोपास्यत्वाद्वैक एवाऽऽत्मा कर्मविषये भेददृष्टिभाक् स एवाकर्मकालेऽभेदेनाप्युपास्य इत्येवमपुनरुक्तता।

"विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳसह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते" (ई. उ. ११) इति। "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः" (ई. उ. २) इति च वाजिनाम्। न च वर्षशतात्परमायुर्मर्त्यानाम्। येन कर्मपरित्यागेनाऽऽत्मानमुपासीत। दर्शितं च

जगत्सृष्टीति। "स इमाँल्लोकानसृजत" इत्यादिश्रवणादित्यर्थः। प्रकारान्तरेण पुनरुक्तिं परिहरति- केवलेति। एतं परिहारं वाशब्दार्थं वदन्विवृणोति – अथवेति। कर्मणोऽन्यत्रेति। कर्माङ्गत्वं तदङ्गोक्थाद्यधिकरणत्वं च विनेत्यर्थः। अप्राप्ताविति च्छेदः। अप्राप्तौ हेतुमाह-कर्मप्रस्ताव इति। अविहितत्वादिति च्छेद उत्तरत्र हेतुः। न चैवं स्वोक्तकर्मसंबन्धित्वनियमत्यागापत्तिः कर्माङ्गाश्रितत्वमात्रस्य त्यागेऽपि कर्मसंबन्धित्वस्य सविशेषविषयत्वलक्षणस्य [2]कर्मसमुच्चितत्वलक्षणस्य वाऽत्यागादङ्गीकारवादेनास्य पक्षस्योक्तेर्वाऽस्मिन्नपि पक्षे कर्मिनिष्ठत्वं नियतमिति भावः। अत्रैव पक्षे विशेषान्तरमाह – भेदेति। भेददृष्टीति। इदंतयोपास्य इत्यर्थः। अभेदेनेति। अहंतयेत्यर्थः।

आत्मा वा इदमित्यादिषट्कस्य स्वपक्षेऽर्थवत्त्वमुक्त्वा तस्य कर्मत्यागेनाऽऽत्मज्ञानार्थत्वपक्षे बहुश्रुतिविरोधमाह – विद्यामित्यादिना। अविद्याशब्देनात्र तत्कार्यं कर्मोच्यते। ननु कुर्वन्नेवेति मन्त्रे वर्षशतस्य कर्मनियतत्वोक्तावपि तदनन्तरं संन्यासः स्यादित्यत आह – न चेति। "शतायुर्वै पुरुषः" इति श्रुतेरित्यर्थः। इहापि बृहतीसहस्राख्यस्य शस्त्रस्य [3]षट्त्रिंशतमक्षराणां सहस्राणीत्युक्त्वा तावन्ति पुरुषायुषोऽह्नां सहस्राणीत्युक्तत्वाद्वत्सरशतमेवाऽऽयुरित्याह – दर्शितं चेति। भवन्तीत्यनन्तरमितिशब्दो द्रष्टव्यः। पुरुषायुषस्याह्नामिति भाष्यपाठः साधुः। पुरुषायुषोऽह्नामिति तु[4]"समासान्तविधे"[5]रनित्यत्वा-

---

आदि विशेष धर्मों का निश्चय कराने के लिए अथवा केवल उसकी उपासना बतलाने के लिए पुनरुक्ति दोष नहीं माना जा सकता अथवा यों समझें, कर्मी आत्मा की उपासना कर्म से अन्यत्र प्राप्त नहीं होती थी क्योंकि कर्म प्रसंग में केवल आत्म उपासना का विधान नहीं किया गया था। अतः "आत्मा वा इदमग्रे" इत्यादि आगे का ग्रन्थ समुदाय यही बतलाने के लिए है कि केवल आत्मा भी उपास्य है। भेद और अभेदरूप से उपास्य होने के कारण एक ही आत्मा कर्म के सम्बन्ध में भेद दृष्टि वाला है और वही आत्मा कर्म त्याग में अभेदरूप से उपास्य है, ऐसा मान लेने पर पुनरुक्ति नहीं होती।

"जो पुरुष उपासना और कर्म इन दोनों का साथ-साथ अनुष्ठान करता है, वह कर्म से मृत्यु को पारकर उपासना से अमरत्व को प्राप्तकर लेता है" तथा "इस अधिकारी लोक में कर्म करता हुआ ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे" ऐसा वाजसनेयी शाखा वालों का कहना है, मनुष्य की परम

---

१. कर्मिणो यजमानस्य कर्तरि षष्ठीयं न किन्तु शेष एव आत्मन इति कर्मषष्ठीप्रयोगादुभयप्राप्तौ कर्मणीति च नियमात्। २. कर्मसमुच्चितत्वेति कर्मिण इत्युक्तेः कर्मसामानाधिकरण्याङ्गीकारादिति भावः। ३. षट्त्रिंशतमितिच्छान्दसी द्वितीया कर्मणि वा भवेत्। ४. समासान्तेति – अचतुरविचतुरसुचतुरेत्यादिविहित समासान्तेत्यर्थः। ५. अनित्यत्वेति – अत्र हि अंश्वादिगणे राजञ्छब्दपाठो ज्ञापकस्तथा हि "प्रतेरंश्वादयस्तत्पुरुषे" इत्यनेनान्तोदात्तार्थमंश्वादिगणे राजञ्छब्दपाठः। स चायं समासान्तविधेरनित्यत्वे सत्येव सफलोऽन्यथा टचैवान्तोदात्तत्वसिद्धौ तदर्थं कृतस्य अंश्वादिगणे राजञ्छब्दपाठस्य वैयर्थ्यापत्तेरिति। प्रतिराजेत्युदाहरणं द्रष्टव्यम्।

"तावन्ति पुरुषायुषोऽह्नां सहस्राणि भवन्ति" (ऐ. आ. २-३-८)। वर्षशतं चाऽऽयुः कर्मणैव व्याप्तम्। दर्शितश्च मन्त्रः "कुर्वन्नेवेह कर्माणि" इत्यादिः। तथा "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति" "यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत" इत्याद्याश्च। "तं यज्ञपात्रैर्दहन्ति" इति च। ऋणत्रयश्रुतेश्च।

तत्र पारिव्राज्यादिशास्त्रं 'व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' (बृ. ३-५-१) इत्याद्यात्मज्ञानस्तुतिपरो-

---

भिप्रायेण कथंचिन्नेयः। पुरुषायुषं चेद्वर्षशताधिकं नास्ति तर्हि तन्मध्य एव कर्मसंन्यासः स्यादत आह — वर्षशतं चेति। तत्र मानमाह — दर्शितश्चेति। ननु पुराणेषु शताधिकस्याऽऽयुषो दशरथादेः श्रुतत्वाच्छतवर्षानन्तरं कर्मसंन्यासः स्यादित्याशङ्क्य शतायुः श्रुतिविरोधेन तस्यार्थवादत्वात्तथाऽङ्गीकारेऽपि जीवनकालस्य सर्वस्यापि कर्मणा व्याप्तत्वश्रुतेर्नैवमित्याह — तथा यावज्जीवमिति। जीर्णो वा [1]विरमेदिति वचनाज्जरानन्तरं संन्यासः स्यादित्याशङ्क्य यज्ञपात्रैर्दहनविधानान्नेत्याह — तं यज्ञपात्रैरिति। ननु यावज्जीवादिवाक्यानां प्रतिपन्नगार्हस्थ्यविषयत्वं वक्तव्यम्। अन्यथा ब्रह्मचारिणोऽपि तद्विधिप्रसङ्गा-त्ततश्च गार्हस्थ्यात्पूर्वं कर्मत्यागः स्यादत आह —ऋणेति। "जायमानो वै ब्राह्मण[2]स्त्रिभिर्ऋणवाञ्जायते" इति श्रुतेः, "ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्" इति स्मृतेश्चेत्यर्थः। ततश्च तदपाकरणार्थं [3]तेनापि गार्हस्थ्यमेव प्रतिपत्तव्यं न संन्यास इत्यर्थः।

"यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत" (जाबाल. ४) "व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति" (बृ. ३-५-१) "ब्राह्मणः प्रव्रजेद्गृहात्" इत्यादिश्रुतिस्मृत्योः का गतिरित्यत आह — तत्रेति। ज्ञानस्तुतीति। 'सर्वसंन्यासेनाप्यात्मा ज्ञातव्यः' इति ज्ञानस्तुतिः प्रतीयत इति [4]तत्पर इत्यर्थः। [5]विधित्वेऽपि कर्मानधिकृतान्धपङ्ग्वादिविषयत्वमेवेत्याह

आयु सौ वर्ष से अधिक नहीं है, जिससे कि वह कर्म परित्याग पूर्वक आत्मा की उपासना कर सके। "पुरुष की आयु के इतने (छत्तीस) ही सहस्र दिन होते हैं, ऐसा इस ऐतरेयारण्यक में दिखलाया गया है (क्योंकि ऐतरेयारण्यक में छत्तीस-छत्तीस अक्षर के एक सहस्र बृहती छन्द हैं। अतः कुल मिलाकर उसमें छत्तीस हजार अक्षर होते हैं। तदनुसार ही मनुष्य की आयु छत्तीस हजार दिन वाली बतलायी गयी है) ऐसी वह सौ वर्ष की आयु कर्म से ही व्याप्त है। इसलिए "कुर्वन्नेवेह कर्माणि" इत्यादि मन्त्र दिखलाया जा चुका है और ऐसा ही "जीवन पर्यन्त अग्निहोत्र करे" "जीवन पर्यन्त दर्शपूर्णमास से यजन करे" इत्यादि तथा "उसको करने के बाद यज्ञपात्रों के सहित ऋत्विक्लोग जलाते हैं" इत्यादि श्रुतियों से तथा तीन ऋणों की सूचना देने वाली श्रुतियों से भी (यावज्जीवन कर्मानुष्ठान की कर्तव्यता सिद्ध होती है)।

श्रुति में जो "यति लोग सर्वसंग का परित्याग कर भिक्षाचर्या करते हैं" इत्यादि संन्यास सम्बन्धी शास्त्र है, वह आत्मज्ञान की स्तुति करने वाला अर्थवाद मात्र है अथवा जिसका कर्म में अधि-कार नहीं है ऐसे कर्मानधिकारियों के लिए ही संन्यास सम्बन्धी शास्त्र है। सिद्धान्ती :— ऐसा कहना

---

१. विरमेत्कर्मभ्य इति भावः। २. त्रिभिरिति ऋष्याद्यृणैरित्यर्थः। ३. तेनापि ब्रह्मचारिणापि। ४. अर्थवा-दत्वेन विशेष्यत्वाभिप्रायेणाह — तत्पर इति। ५. नन्वर्थवादत्वे विधिप्रत्ययो नोपपद्यत इत्याशङ्क्याह — विधित्वेऽपीति।

ऽर्थवादोऽनधिकृतार्थो वा। न। [1]परमार्थविज्ञाने फलादर्शने क्रियानुपपत्तेः। यदुक्तं "कर्मिण एव चाऽऽत्मज्ञानं कर्मसंबन्धि च" इत्यादि तन्न। परं ह्याप्तकामं सर्वसंसारदोषवर्जितं ब्रह्माहमस्मीत्यात्मत्वेन विज्ञाने कृतेन कर्तव्येन वा प्रयोजनमात्मनोऽपश्यतः फलादर्शने क्रिया नोपपद्यते। फलादर्शनेऽपि नियुक्तत्वात्करोतीति चेत्। न। नियोगाविषयात्मदर्शनादिष्टयोगमनिष्टवियोगं चाऽऽत्मनः प्रयोजनं पश्यंस्तदुपायार्थी यो भवति स

—अनधिकृतेति। तस्मान्नाकर्मिनिष्ठा विद्या किंतु कर्मिनिष्ठा [2]तत्संबन्धिनी चेति स्थितं तदेतत्सिद्धान्ती परिहरति — नेति। एवं हि कर्मिनिष्ठा विद्या स्यात्। यदि विदुषोऽपि कर्मानुष्ठानं स्यात्तदपि प्रयोजनार्थितया वा स्यात्काम्य इव नियोगबलाद्वा प्राभाकरमत इव नित्यकर्मणि। तत्र नाऽऽद्य इत्याह — परमार्थेति। संग्रहवाक्यं विवृण्वन्निषेध्याध्याहारपूर्वकं नञर्थं विवृणोति — यदुक्तमित्यादिना। कर्मसंबन्धि चेति। [3]कर्माङ्गोक्थाद्याश्रयमित्यर्थः। परमार्थेतिवाक्यांशं विवृणोति — परमिति। अर्थप्राप्त्यर्थमनर्थनिवृत्त्यर्थं वा कर्म स्यान्नोभयमपीति वक्तुं विशेषणद्वयं, दोषपदेन रागद्वेषाभावेनापि प्रवृत्त्यभावं सूचयति। [4]प्रागनुष्ठितकर्मणाऽप्यसंबन्धे कर्तव्येन संबन्धो दूरापास्त इति वक्तुं कृतेनेत्युक्तम्। द्वितीयं शङ्कते — फलादर्शनेऽपीति। ममेदं कार्यमिति बोद्धा हि नियोगस्य विषयो नियोज्यः [5]कार्ये स्वकीयत्वज्ञानं च तज्जन्यफलार्थिनो न चाऽऽत्मनोऽसङ्गित्वज्ञानिनो ममेदमिति बुद्धिर्भवति। अतो न तस्य नियुक्तत्वमित्याह — न नियोगेति। तदेवोपपादयति — इष्टेति। ममेदं कार्यमितिबोधाभावेऽपि चेन्नियुज्येत तर्हि राजसूयादिकं ब्राह्मणादिना कर्तव्यं स्याद[6]ग्निष्टोमादिकं च सर्वदा कर्तव्यं स्या[7]न्निर्निमित्त-

ठीक नही क्योंकि परमार्थतत्त्व का अपरोक्ष अनुभव हो जाने पर क्रिया का फल देखने के कारण उस तत्त्ववेत्ता पुरुष से क्रिया नहीं हो सकती। आपने जो कहा था कि कर्मी को ही आत्मज्ञान होता है और आत्मज्ञान कर्म से सम्बन्धित है इत्यादि, वह कहना ठीक नहीं। सम्पूर्ण संसार दोष से रहित आप्तकाम परब्रह्म मैं हूँ। इस प्रकार ब्रह्म का आत्मभाव से साक्षात्कार हो जाने पर किए हुए कर्म अथवा क्रियमाण कर्म के साथ अपना कोई प्रयोजन न देखने वाला पुरुष कर्मफल के साथ अपना सम्बन्ध का अभाव जान लेने पर उसके द्वारा क्रिया हो नहीं सकती। यदि कहो कि फल न दीखने पर भी शास्त्र आज्ञा से नियोजित होने के कारण वह तत्त्ववेत्ता पुरुष भी कर्म करता ही है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि जिस आत्मा का साक्षात्कार उसे हो चुका है, वह नियोग (शास्त्र विधि) का विषय नहीं है। जो पुरुष अपना इष्ट प्राप्ति और अनिष्ट परिहाररूप प्रयोजन को देखकर उनके उपाय को चाहने

१. परमार्थविज्ञान इति इत आरभ्य १७ पृ० विदुषः कर्तव्यत्वोपपत्तिरिति यावद्विद्वत्संन्यासश्चर्च्यत इत्यवधेयम्। २. ततसंबन्धिनीति तदा कर्म्यकदेशस्य कर्मणः परामर्शः। ३. कर्माङ्गेत्यादि बृहतीसहस्राख्यशस्त्रात्मककर्माङ्गावबद्धमित्यर्थः। ४. ननु योग्यताबलादकृतस्यैव कर्तव्यतयाऽऽपाद्यमानत्वे कृतेन प्रयोजनमपश्यत इत्यसङ्गतामित्याशङ्क्याऽऽह — प्रागित्यादि। ५. कार्ये कर्मणीत्यर्थः। ६. अग्निष्टोमादिकं च सर्वदेति अग्निष्टोमो हि सोमयागस्य संस्थास्वाद्यासंस्थेति निरधारि "य एतेनेत्यग्निष्टोमः प्रकरणात्" जै० ५/३ इत्यधिकरणे तथा च तस्य सोमयागाङ्गत्वेन तन्निमित्तकतया सोमयाजिनैव सता कर्तव्यत्वधियानुष्ठेयत्वमधुना तु तदनुष्ठानस्य सर्वादिकत्वं स्यादित्यर्थः। ७. तत्र हेतुमाह — निर्निमित्तेत्यादिना। कार्यत्वबुद्ध्यभावेऽपि नियोगाभ्युपगमे यथोक्तबुद्धेरनिमित्ततया तद्बुद्धिसत्त्वासत्त्वयोरनुष्ठानं प्रति निमित्ताभावस्य तुल्यत्वादित्यर्थः।

नियोगस्य विषयो [1]दृष्टो लोके न तु तद्विपरीतो नियोगाविषयब्रह्मात्मत्वदर्शी। ब्रह्मात्मत्वदर्श्यपि संश्चेन्नियुज्येत नियोगाविषयोऽपि सन्न कश्चिन्न नियुक्त इति सर्वं कर्म सर्वेण सर्वदा कर्तव्यं प्राप्नोति। तच्चानिष्टम्। न च स नियोक्तुंशक्यते केनचित्। आम्नायस्यापि तत्प्रभवत्वान्न हि स्वविज्ञानोत्थेन वचसा स्वयं नियुज्यते, नापि बहुवित्स्वाम्यविवेकिना भृत्येन। आम्नायस्य नित्यत्वे सति स्वातन्त्र्यात्सर्वान्प्रति नियोक्तृत्वसामर्थ्यमिति चेत्। न। उक्तदोषात्। तथाऽपि सर्वेण सर्वदा सर्वं शिष्टं कर्म

त्वाविशेषादित्याह — ब्रह्मात्मत्वेति। न कश्चिन्न नियुक्त इति। नञ्द्वयेन सर्वोऽपि नियुक्त एवेत्यर्थः। किंच नियोक्ताऽप्यस्य किं यः कश्चन पुरुषो वेदो वा। आद्ये विदुष ईश्वरात्मत्वज्ञानात्सर्वनियोक्तृत्वेन स्वनियोज्येनान्येनास्य नियोज्यत्वं स्यात्तच्च विरोधान्न संभवतीत्याह — न च स इति। तस्यैव सर्वनियोक्तृत्वादित्यर्थः। नन्व[2]न्यस्य नियोज्यत्वाभावेऽप्याम्नायेन विद्वान्नियोज्यः स्यादिति द्वितीयमाशङ्क्य तस्याऽऽम्नायस्येश्वरतामापन्नस्वविज्ञानपूर्वकत्वात्स्ववचनेन स्वस्य नियोज्यत्वमेकत्र कर्मकर्तृत्वविरोधान्न संभवतीत्याह — आम्नायस्यापीति। किंच व्याकरणादेस्तत्कर्तृपाणिन्यादिज्ञैकदेशार्थविषयत्वदर्शनेन वेदस्यापीश्वरजन्यस्येश्वरज्ञैकदेशविषयत्वेनाल्पज्ञत्वादप्यधिकज्ञेश्वरनियोक्तृत्वमयुक्तमित्याह — नापि बहुविदिति। अविवेकिनेत्यल्पज्ञेनेत्यर्थः। अचेतनत्वाद्वा तस्याविवेकित्वं भृत्येन न नियुज्यत इत्यनुषङ्गः। ननु वेदस्येश्वरज्ञानपूर्वकत्वपक्षे [3]पूर्वोक्तदोषानुषङ्गेऽपि तस्य नित्यत्वपक्षे नायं दोष इति शङ्कते —आम्नायस्येति। तस्याचेतनस्य नियोक्तृत्वं न संभवति [4]तस्य चेतनधर्मत्वादित्युत्तरमाह — नेति। नियोक्तृत्वमभ्युपेत्यापि दोषमाह — उक्तदोषादिति। तदेव विवृणोति — तथाऽपीति। अनियोज्यस्यापि चेत्कर्तव्यं विदुषस्तर्हि सर्वं शिष्टं विहितं सर्वेणापि कर्तव्यं संकोचे हेत्वभावा-

---

वाला होता है, वही लोक में विधि निषेधरूप नियोग का विषय होता देखा गया हे किन्तु उसके विपरीत नियोग के अविषयरूप ब्रह्म को आत्मरूप से देखने वाला पुरुष नियोग का विषय होता देखा नहीं गया। यदि ब्रह्मात्मदर्शी पुरुष नियोग का विषय न होने पर भी शास्त्र आज्ञा से नियुक्त होने लग जाए तो फिर नियुक्त न होने वाला कोई भी रहेगा ही नहीं फिर तो सबको सर्वदा सभी कर्म करते ही रहना चाहिए, ऐसा प्रसंग आ जाएगा किन्तु यह अभीष्ट नहीं, वह आत्मदर्शी किसी से भी नियोजित नहीं हो सकता क्योंकि शास्त्र भी उसी से उत्पन्न हुआ है। अपने विज्ञान से उत्पन्न वचन द्वारा कोई स्वयं नियुक्त नहीं होता और न बहुज्ञ स्वामी ही अल्पज्ञ सेवक से नियुक्त हो सकता है।

यदि कहो कि नित्य होने के कारण सभी के प्रति वेद का स्वतन्त्रता पूर्वक नियोक्तृत्व सामर्थ्य विद्यमान है, तो पूर्वोक्त दोषों के रहते-रहते ऐसा कहना ठीक नहीं, ऐसी अवस्था में सभी को सब कर्म अविशेषरूप से करना चाहिए। यह ऊपर बतलाया हुआ दोष अपरिहार्य रूप से बना ही रहता है।

यदि कहो कि उसका विधान भी शास्त्र द्वारा ही किया गया है अर्थात् जैसे शास्त्र ने कर्म की कर्तव्यता कही है वैसे ही उस कर्मी के लिए ही उस आत्मज्ञान का भी शास्त्र से ही विधान किया गया

---

१. दृष्टो लोक इति स्वास्थ्यार्थमौषधं सेवमानो हि रुग्णः पथ्यादिविषयेभिषङ्नियोगविषयो दृश्यत इति भावः।
२. अन्यस्येति कर्तरि षष्ठी अन्येनेत्यर्थः। ३. पूर्वोक्तदोषोऽल्पज्ञत्वादिरूपः। ४. तस्य नियोक्तृत्वस्य।

कर्तव्यमित्युक्तो दोषोऽपरिहार्य एव। तदपि शास्त्रेणैव विधीयत इति चेत्। यथा कर्मकर्तव्यता शास्त्रेण कृता तथा तदप्यात्मज्ञानं तस्यैव कर्मिणः शास्त्रेण विधीयत इति चेन्न। विरुद्धार्थबोधकत्वानुपपत्तेः। न ह्येकस्मिन्कृताकृतासंबन्धित्वं तद्विपरीतत्वं च बोधयितुं शक्यम्। [१]शीतोष्णतामिवाग्नेः।

न चेष्टयोगचिकीर्षाऽऽत्मनोऽनिष्टवियोगचिकीर्षा च शास्त्रकृता, सर्वप्राणिनां तद्दर्शनाच्छास्त्रकृतं चेत्तदुभयं गोपालादीनां न दृश्येताशास्त्रज्ञत्वात्तेषाम्। यद्धि स्वतोऽप्राप्तं तच्छास्त्रेण बोधयितव्यम्। तच्चेत्कृतकर्तव्यताविरोध्यात्मज्ञानं शास्त्रेण कृतं, कथं तद्विरुद्धां कर्तव्यतां पुनरुत्पादयेच्छीततामिवाग्नौ तम इव च भानौ।

दित्यर्थः। असङ्गिब्रह्मात्मत्वज्ञानस्य कर्मकर्तव्यतायाश्च शास्त्रेण कृतत्वादुभयोरपि शास्त्रयोः प्रामाण्याविशेषात्[२]कदाचिदात्मज्ञानं कदाचित्कर्मानुष्ठानं च स्यादिति शङ्कते — तदपीति। तदेव विवृणोति — यथेति। स्वाभाविकाकर्त्रात्मबोधेन सकृदुत्पन्नेनैव कर्तृताबोधबाधनान्न पुनः शास्त्रेण कर्तृत्वबोधः संभवतीत्याह — नेति। कृताकृतेत्यत्र कृतमिदानीमकृतमितः परं कर्तव्यं यत्तदुच्यते।

एवं तावन्नियोगाविषयाकर्त्रात्मदर्शित्वाद्विदुषः परं प्रयोजनार्थित्वाभावाच्च विदुषो न कर्मेत्युक्तम्। इदानीं स्वत इष्टानिष्टसंयोगवियोगरूपप्रयोजनार्थितानुवादेन विदुषः स्वर्गकामो यजेतेतिशास्त्रेणैव [३]साऽप्याधीयत इत्याशङ्क्य स्वभावतः प्राप्तप्रयोजनार्थितानुवादेन तदुपायमात्रं शास्त्रेण बोध्यते न तु साऽप्याधीयते। [४]अन्यथाऽशास्त्रज्ञानां तदर्थिता न स्यादित्याह — न चेष्टेति। अत्र चिकीर्षाशब्देन फलेच्छामात्रमुच्यते न तु कर्तुमिच्छा [५]फले तदयोगादिति। ननु कृताकृतासंबन्धित्वं तद्विपरीतत्वं च विरुद्धत्वान्न बोधयति चेच्छास्त्रं तर्हि कृताकृतासंबन्धित्वमेव मा बोधीत्याशङ्क्य तस्य मानान्तरासिद्धत्वेनावश्यं शास्त्रबोध्यत्वे वक्तव्ये तद्विपरीतत्वस्य मानान्तरसिद्धस्यैव न शास्त्रबोध्यत्वं विरुद्धत्वादित्याह — यद्धीति। चेदिति निश्चयार्थे। कृतेति। इदं कृतमिदं कर्तव्यमितिज्ञानविरोधीत्यर्थः। कर्तव्यतां तज्ज्ञानमित्यर्थः।

है, ऐसा कहना भी ठीक नहीं क्योंकि शास्त्र में विरुद्ध अर्थ की बोधकता सम्भव नहीं है। अग्नि की शीतलता और उष्णता की भाँति एक ही शास्त्र में पुण्य-पाप के सम्बन्धित्व और असम्बन्धित्व का बोध करना सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त अपनी इष्ट वस्तु के संयोग की इच्छा और अनिष्ट वस्तु के वियोग की इच्छा शास्त्र जनित नहीं है क्योंकि यह सभी प्राणियों में स्वभावतः देखी जाती है। यदि उक्त इच्छा शास्त्र जनित होती तो वे दोनों ही गोपाल आदि में दिखाई नहीं देती क्योंकि वे गोपाल शास्त्रज्ञ नहीं। जो वस्तु स्वतः प्राप्त नहीं होती, वही शास्त्र द्वारा बोधव्य मानी जाती है। इस प्रकार यदि शास्त्र ने कृत और कर्तव्यता के विरोधी आत्मज्ञान का उपदेश किया है तो फिर वह अग्नि में शीतलता के समान और सूर्य में अन्धकार के समान उसकी विरुद्ध कर्तव्यता को कैसे उत्पन्न करेगा?

---

१. शीतोष्णतामितिबोधयितुमित्येतदपेक्षया द्वितीया शक्यमिति च भावे कृत्य इत्यवधेयम्। २. यौगपद्यासंभवमभिप्रेत्याह — कदाचिदिति। ३. साऽपीति — प्रयोजनार्थितेत्यर्थः। स्वर्गकामः स्याद्यजेत चेत्येवमुभयं शास्त्रेण विधीयत इत्यर्थः। ४. वाक्यभेद इच्छायाः कृत्यसाध्यत्वेनाविधेयत्वं चेति दोषद्वये सत्येव दोषान्तरमाह — अन्यथेत्यादिना। ५. फले तदयोगादिति — फलस्य कृत्यविषयत्वादिति भावः।

न बोधयत्येवेति चेत्। न। '[1]स म आत्मेति विद्यात्'(ऐ. आ. ३-२-४) 'प्रज्ञानं ब्रह्म' इति चोपसंहारात्। 'तदात्मानमेवावेत्' (बृ. १-४-१०) 'तत्त्वमसि' (छा. ६-८-७) इत्येवमादिवाक्यानां तत्परत्वात्। उत्पन्नस्य च ब्रह्मात्मविज्ञानस्याबाध्यमानत्वान्नानुत्पन्नं भ्रान्तं वेति शक्यं वक्तुम्।

त्यागेऽपि प्रयोजनाभावस्य तुल्यत्वमिति चेत् "नाकृतेनेह कश्चन" (गी. ३-२८) इतिस्मृतेः। य आहुर्विदित्वा ब्रह्म व्युत्थानमेव कुर्यादिति। तेषामप्येष समानो दोषः प्रयोजनाभाव इति

विध्यभावेन वेदान्तानां न तादृगात्मबोधकत्वमित्याशङ्क्य पुरुषस्य कर्तव्याभिमुखीकरणार्थत्वाद्विधेरिहाऽऽत्मज्ञानाभिमुखीकरणार्थं [2]विधिस्वरूपस्यार्थवादस्य सत्त्वात्[3]स्वरूपबोधकस्य तत्परवाक्यस्यापि सत्त्वाच्च नैवमित्युत्तरमाह – न बोधयत्येवेत्यादिना। उपसंहारादित्यनेन ततसहचरितमात्मा वा इदमित्याद्युपक्रमादितात्पर्यलिङ्गं सूचयति। ज्ञानोत्पत्त्यनुवादिकाण्वश्रुतिबलादप्यनुत्पत्तिशङ्का न कार्येत्याह – तदात्मानमिति। तदिति जीवरूपेणावस्थितं ब्रह्मेत्यर्थः। छान्दोग्यबलादप्येवमेवेति वदन्[4]गतिसामान्यन्यायं दर्शयति – तत्त्वमसीति। अनेन तद्धास्य विजज्ञाविति वाक्यशेषोऽप्युपलक्ष्यते। अयमात्मा ब्रह्मेत्यादिरादिशब्दार्थः। कर्त्रात्मबोधककर्मकाण्डविरोधादुत्पन्नमपि ज्ञानं भ्रान्तमित्याशङ्क्य तस्य यथाप्राप्तकर्त्रात्मानुवादेनोपायमात्रपरत्वान्न[5]वस्तुपरवेदान्तजन्यज्ञानबाधकत्वमित्याह – उत्पन्नस्येति। नानुत्पन्नमिति। वाक्यश्रवणानन्तरमकर्ताऽऽत्माऽहमितिज्ञानस्यानुभवसिद्धत्वान्नाहमकर्तेतिविपरीतज्ञानादर्शनाच्च नोभयं वक्तुं शक्यमित्यर्थः।

विदुषः प्रयोजनाभावान्न कर्मणि प्रवृत्तिरित्युक्तं तर्हि तत्त्यागेऽपि प्रयोजनाभावात्तत्रापि न प्रवृत्तिः स्यादिति शङ्कते – त्यागेऽपीति। तस्य विदुषः कृतेन कर्मणाऽर्थो नास्ति अकृतेन कर्माभावेनापीह लोके नार्थोऽस्तीति गीतासु स्मरणात् त्यागेऽपि प्रयोजनाभावस्य तुल्यत्वमिति चेदित्यन्वयः। शङ्कामेव विवृणोति – य आहुरिति। कर्मत्यागस्य व्यापारात्मकत्वे व्यापारस्य क्लेशात्मकत्वात्तदनुष्ठानं प्रयो-

---

यदि कहो कि वह ऐसा बोध तो कराता ही नहीं तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं क्योंकि "वह मेरी आत्मा है, ऐसा जाने" "प्रज्ञान ही ब्रह्म है," इस प्रकार उपसंहार किया गया है "(जीवरूप से अवस्थित) उस ब्रह्म ने अपने आप को ही जाना" "वह तू ही है" इत्यादि वाक्य भी आत्मज्ञान परक ही है। उत्पन्न हुआ ब्रह्मात्म विज्ञान अबाध्य होने के कारण यह भी कहना उचित नहीं होगा कि ऐसा ज्ञान उत्पन्न ही नहीं होता या यह ज्ञान भ्रान्त है।

यदि कहो कि "उस तत्त्ववेत्ता को इस लोक में कर्म त्याग से भी कोई प्रयोजन नहीं है" इस

---

१. स म इत्यादि मृग्यं वचः। द्वितीयाध्यायोपक्रमभाष्यटीकायां संहितोपनिषदीति वक्ष्यते सा चेतः प्राच्यारण्यक-भागे भवितुमर्हतीति। २. विधिस्वरूपस्येति – अत्र विधिस्वरूपस्येति युक्तं यथाश्रुतं विधेः स्वरूपमिव स्वरूपं यस्येति विधया व्याख्येयम्। ३. यथोक्तर्थवादेन ज्ञानाभिमुखीभावेऽपि विधिविरहिवाक्यान्नोत्स्यते ज्ञान-मित्याशङ्क्याऽऽह – स्वरूपबोधकस्येति। विधिनैव ज्ञानमिति निर्मूलमेवेति भावः। ४. गतिसामान्यन्यायमिति – तथा च सूत्रं "गतिसामान्यादिति" (१-१-१०।।) तत्तद्वेदान्तजन्यानामवगतीनां चेतनकारणविषयकत्वेन सामान्यान्नाचेतनं जगतः कारणमित्यर्थः। इह त्वात्मावगतिजनकत्वे तदवगत्युत्पत्तिबोधकत्वे च समान्त्वमित्यर्थः। ५. न वस्तुपरेति – उभयोर्भिन्नविषयत्वेन बाध्यबाधकभावस्यैवाभावादिति भावः।

चेत्। न। अक्रियामात्रत्वाद्व्युत्थानस्य। अविद्यानिमित्तो हि प्रयोजनस्य भावो न [1]वस्तुधर्मः। सर्वप्राणिनां तद्दर्शनात्। प्रयोजनतृष्णया च प्रेर्यमाणस्य वाङ्मनःकायैः प्रवृत्तिदर्शनात्। "सोऽकामयत जाया मे स्यात्" (बृ. १-४-२७) इत्यादिना पुत्रवित्तादि पाङ्क्तलक्षणं [2]काम्यमेवेति "उभे ह्येते साध्यसाधनलक्षणे एषणे एव" इति वाजसनेयिब्राह्मणेऽवधारणात्।

जनापेक्षं स्यात्। न त्वेतदस्ति किंतु क्रियाभावमात्रमौदासीन्यरूपम्। तस्य च स्वाध्यस्वरूपत्वात्स्वत एव प्रयोजनत्वान्न प्रयोजनान्तरापेक्षत्वमिति परिहरति — नेति। त्यागस्या[3]न्यत्र क्लृप्तव्यापारहेतुजन्यत्वाभावान्न व्यापारत्वमिति वक्तुमन्यत्र क्लृप्तव्यापारहेतुमाह — अविद्येत्यादिना। यद्वा विदुषः कथं यत्नं विना व्युत्थानमौदासीन्यमात्रेण सिध्यतीत्य शङ्क्य क्रियाहेत्वभावात्क्रियाभाव इति वक्तुं तद्धेतुमाह — अविद्येत्यादिना। प्रयोजनस्य भाव इति। प्रयोजनस्य तृष्णेत्यर्थः। तस्या वस्तुधर्मत्वे विदुषोऽपि तृष्णा स्यादिति तन्निषेधति — न वस्तुधर्म इति। न वस्तुस्वभाव इत्यर्थः। वस्तुधर्मत्वे हि विदुषामविदुषां च सुप्तमूर्छितादीनां सा स्यान्न[4]त्वेतदस्ति। [5]तत्र हेतुमाह — सर्वेति। तद्दर्शनादिति पाठे वस्तुस्वभावाज्ञानिनां गोपालादीनामपि तृष्णादर्शनान्न वस्तुधर्म इति [6]कथंचिद्योज्यम्। तृष्णाया अविद्याजन्यत्वमुक्त्वा तस्या व्यापारहेतुत्वमाह — प्रयोजनेति। दर्शनादिति पञ्चम्यविद्याकामदोषनिमित्ताया इत्युत्तरत्र हेतुत्वेन संबध्यते। न केवलं दर्शनमेव किंतु श्रुतिरप्यस्तीत्याह — सोऽकामयतेति। सोऽकामयतेत्यादिनोभे ह्येते एषणे एवेति वाक्येन च पुत्रवित्तादि काम्यमेवेति वाजसनेयिब्राह्मणेऽवधारणादित्यन्वयः। पाङ्क्तलक्षणमिति। जायापुत्रदैवमानुषवित्तद्वय[7]कर्मभिः पञ्चभिर्योगात्पाङ्क्तलक्षणं[8]कर्मेत्यर्थः। उभे इत्यस्यार्थमाह — साध्यसाधनेति।

स्मृति के अनुसार ज्ञानी को (कर्म में प्रवृत्ति की भाँति) कर्मत्याग में भी प्रयोजन का अभाव समान ही है अर्थात् जो लोग कहते हैं कि ब्रह्म को जानकर कर्म का त्याग करना चाहिए, उनके लिए भी प्रयोजनाभावरूप दोष समान ही है। तो उनका यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि व्युत्थान तो अक्रियारूप ही है (अक्रियारूप व्युत्थान के लिए किसी प्रयोजन की अपेक्षा नहीं होती है) प्रयोजन भाव तो अविद्या निमित्तक है, वह वस्तु का धर्म नहीं है क्योंकि यह बात सभी प्राणियों में देखी जाती है अर्थात् प्रयोजन की तृष्णा से प्रेरित होते हुए प्राणियों की वाणी, मन और शरीर द्वारा प्रवृत्ति देखी गयी है वैसा ही वाजसनेयी ब्राह्मण में "उस आदि पुरुष ने इच्छा की कि मुझे पत्नी होवे", इत्यादि कथन द्वारा "साध्य-साधनरूप ये दोनों एषणायें ही हैं" इससे यही निश्चित होता है कि पुत्र-वित्तादि पाँक्त लक्षण कर्म काम्य ही है।

---

१. वस्त्वात्मा। २. काम्यमिति — कामप्रयुक्तप्रवृत्तिविषय इति यावत्। तथा च प्रवृत्तेः काममूलकत्वं श्रुत्यापि सिद्धमिति भावः। ३. अन्यत्रेति — व्यापारवत्यज्ञ इत्यर्थः। ४. न त्वेतदस्तीत्यनन्तरमितिशब्दो द्रष्टव्योऽन्यथाऽसङ्गतेः। ५. तत्र — वस्तुधर्मत्वाभावे। ६. वह्नेर्दाहस्वभावमजानतोऽपि बालस्य तेन दाहदर्शनात्तज्ज्ञानस्य तत्राप्रयोजकत्वमिति मनीषयाऽऽह — कथंचिदिति। प्रकारान्तरेणैवेति यावत्। तृष्णावतां सर्वेषामविद्यादर्शनादिति सुयोजम्। धूमवत्सर्वस्य वह्निमत्त्वेन धूमस्य वह्निकार्यत्ववत्तृष्णावत्सर्वस्याविद्यावत्त्वेन तृष्णाया अविद्याकार्यत्वमिति भावः। ७. कर्मभिरिति — कर्मात्र चेष्टामात्रम्। ८. कर्मेति — वैदिक कर्मेत्यर्थः। नन्वेवं पुत्रवित्तादिपाङ्क्तलक्षणमिति भाष्यं विरुध्यत इति चेन्न पुत्रवित्तादेरपि कर्माङ्गत्वेन क्रमान्तर्भावादित्यवधेयम्।

अविद्याकामदोषनिमित्ताया वाङ्मनःकायप्रवृत्तेः पाङ्क्तलक्षणाया विदुषोऽविद्यादिदोषाभावादनुपपत्तेः क्रियाऽभावमात्रं व्युत्थानं न तु यागादिवदनुष्ठेयरूपं भावात्कमं, तच्च [1]विद्यावत्पुरुषधर्म इति न प्रयोजनमन्वेष्टव्यम्। न हि तमसि प्रविष्टस्योदित आलोके यद्गर्तपङ्ककण्टकाद्यपतनं तत्किंप्रयोजनमिति प्रश्नार्हम्। व्युत्थानं तर्ह्यर्थप्राप्तत्वान्न चोदनार्हमिति। गार्हस्थ्ये चेत्परब्रह्मविज्ञानं जातं तत्रैवास्त्वकुर्वत आसनं न ततोऽन्यत्र गमनमिति चेत्। न। कामप्रयुक्तत्वाद्गार्हस्थ्यस्य। 'एतावान्वै कामः (बृ. २-४-२७) इति। 'उभे ह्येते

एवं क्रियाहेतुं प्रदर्श्य तदभावादेव विदुषः क्रियाभावोऽयत्नसिद्ध इत्याह — अविद्याकामेति। पाङ्क्तलक्षणाया इति। जायापुत्रदैववित्तमानुषवित्तकर्मभिः पञ्चभिर्लक्ष्यते साध्यत इति वैदिकी प्रवृत्तिः पाङ्क्तलक्षणेत्युच्यते। [2]पंचसंख्यायोगेन गौण्या वृत्त्या पङ्क्तिच्छन्दःसंबन्धोपचारात्पञ्चाक्षरा पङ्क्तिः पाङ्क्तो यज्ञ इति श्रुतेरित्यर्थः। पाङ्क्तलक्षणाया इत्यनन्तरमनुपपत्तेरित्यनुषङ्गः। व्युत्थानमित्यनन्तरमयत्नसिद्धमिति शेषः। एवं च क्रियाऽभावस्यौदासीन्यात्मकस्य पुरुषस्वभावत्वेनायत्नसिद्धत्वे सति न प्रयोजनापेक्षेत्याह — तच्चेति। पुरुषधर्म इति। पुरुषस्वभाव इत्यर्थः। अज्ञानकार्यस्याज्ञाननिवृत्तावयत्नत एव निवृत्तिरित्यत्र दृष्टान्तमाह — न हीति। व्युत्थानस्य पुंव्यापाराधीनत्वाभावे- विधेरनवकाशाद्विदुषो नियमेन व्युत्थानं न सिध्यतीति शङ्कते — व्युत्थानं तर्हीति। ततोऽन्यत्र गमनमिति। पारिव्राज्यस्वीकार इत्यर्थः। किं गार्हस्थ्यशब्देन गृहस्थोऽहमित्यभिमानपुरःसरं पुत्रवित्ताद्यभिमान उच्यत उत [3]गृहस्थलिङ्गधारणम्। नाऽऽद्यः। विद्ययाऽविद्याकार्याभिमाननिवृत्तेरित्याह — न कामेति।

यदि विद्वान् के अविद्या आदि दोषों का अभाव हो जाने के कारण अविद्या एवं कामनारूप दोष के निमित्त से होने वाली मन, वाणी और शरीर की पाँक्तरूप प्रवृत्ति सिद्ध नहीं होती, अतः वहाँ पर व्युत्थान क्रिया का अभाव मात्र है। यागादि के समान वह न अनुष्ठेयरूप है और न भावात्मक ही है। वह व्युत्थान तो ज्ञानी पुरुष का धर्म ही है। अतः व्युत्थान के लिए किसी प्रयोजन को ढूँढने की आवश्यकता नहीं, अन्धकार में प्रवृत्त पुरुष यदि प्रकाश के उदय हो जाने पर गड्ढे, कीचड़ और काँटे आदि में नहीं गिरता तो उसके न गिरने का क्या प्रयोजन है, ऐसा प्रश्न करना सम्भव नहीं। तब तो अर्थतः प्राप्त होने के कारण व्युत्थान विधि वाक्य का विषय नहीं है, इस पर यदि कोई कहे कि किसी को गृहस्थ आश्रम में परब्रह्म का ज्ञान हो जाए तो उसे उस गार्हस्थ्य आश्रम में ही कुछ न करते हुए बैठा रहना चाहिए, वहाँ से कहीं अन्यत्र नहीं जाना चाहिए; तो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि "इतनी ही कामना है" 'ये दोनों एषणाएँ ही है' इत्यादि वाक्यों से निश्चित होने के कारण

---

१. विद्यावत्येवाभिव्यक्तेराह — विद्यावदिति। टीकानुरोधे तु विद्यावदित्यधिकमेव प्रतिभाति। २. ननु पञ्चभिर्लक्ष्यत इति पञ्चलक्षणेति स्यात् पाङ्क्तलक्षणेति कुत इत्यत आह — पञ्चसंख्येति। पञ्चत्वसंख्येत्यर्थः। पङ्क्तेः संबन्धि पाङ्क्तं भवति। तस्य च पङ्क्तिद्वारैवोक्तसङ्ख्यायोग इति तद्रूपया गौण्या लक्षणया पङ्क्तिसंबन्धवत्तोपचारादेव पाङ्क्तलक्षणेति व्यवहार इति भावः। ३. गृहस्थलिङ्गेति — श्मश्रुशिखादीत्यर्थः। श्मश्रुशिखादीत्यादिना अग्न्यादिग्रहः।

एषणे एव' (बृ. ३-५-१) इत्यवधारणात्। कामनिमित्तपुत्रवित्तादिसंबन्धनियमाभावमात्रमेव न हि ततोऽन्यत्र गमनं व्युत्थानमुच्यते। ततो न गार्हस्थ्य एवाकुर्वत आसनमुत्पन्नविद्यस्य। [1]एतेन गुरुशुश्रूषातपसोरप्य[2]प्रतिपत्तिर्विदुषः सिद्धा।

अत्र केचिद्गृहस्था भिक्षाटनादिभयात्परिभवाच्च त्रस्यमानाः सूक्ष्मदृष्टितां दर्शयन्त उत्तरमाहुः। भिक्षोरपि भिक्षाटनादिनियमदर्शनाद्देहधारणमात्रार्थिनो, गृहस्थस्यापि साध्यसाधनैषणोभयविनिर्मुक्तस्य देहमात्रधारणार्थमशनाच्छादनमात्रमुपजीवतो

न द्वितीयः। [3]लिङ्गेऽप्यभिमानराहित्यस्य तुल्यत्वात्। न चैवं पारिव्राज्यलिङ्गेऽप्यभिमानाभावात्तस्याप्यसिद्धिरिति वाच्यम्। सर्वतोऽप्यभिमानराहित्येन सर्वसंबन्धराहित्यलक्षणं हि परमहंसपरिव्राजो [4]लक्षणं न लिङ्गधारणम्। "न लिङ्गं [5]धर्मकारणम्" इति स्मृतेः। ततश्च लिङ्गेऽप्यभिमानशून्यस्य पारिव्राज्यं सिद्धमित्याह — कामनिमित्तेति। गार्हस्थ्य इति। [6]अभिमानात्मक इत्यर्थः। तर्हि गुरुशुश्रूषादावप्यभिमानो न स्यादित्याशङ्क्येष्टापत्तिरित्याह — एतेनेति।

ननु यथा पुत्रादिसंबन्धनियमरहितस्यापि त्वन्मते देहधारणार्थिनो भिक्षोः परिग्रहव्यावर्तनार्थो [7]भिक्षाटनादिनैवेति नियमोऽङ्गीक्रियते तथा गृहस्थस्याप्यभिमानशून्यस्यैव सतो देहधारणार्थं गृह एवास्त्वासनं न भिक्षुकत्वम[8]विशेषादिति शङ्कते — अत्र केचिद्गृहस्था इति। तेषां न [9]न्यायो मूलं किंतु दृष्टभयादिकमेव मूलमित्युपहसन्नाह — भिक्षाटनादीति। परिभवः पामरैः क्रियमाणस्तिरस्कारः। सूक्ष्मेति। [10]काक्वा [11]व्यतिरेकेण स्थूलदृष्टय इत्यर्थः। भिक्षाटनादीत्यादिशब्देन [12]प्राक्प्रणीत[13]मयाचित[14]मित्या-

---

गृहस्थ आश्रम तो कामना से प्रयुक्त ही है और कामना के निमित्त पुत्र-वित्तादि के सम्बन्ध नियम का अभावमात्र ही व्युत्थान है। उन पुत्रादिकों के पास कहीं अन्यत्र जाने का नाम व्युत्थान नहीं। अतः जिसे ज्ञान उत्पन्न हुआ है, उसके लिए कुछ न करते हुए गृहस्थ आश्रम में स्थित रहना सम्भव नहीं है। इससे विद्वान् के लिए गुरु शुश्रूषा और तपस्या की भी असंगति सिद्ध हो जाती है।

यहाँ पर कुछ गृहस्थ पुरुष भिक्षाटन आदि के भय और तिरस्कार से डरने के कारण अपनी सूक्ष्मदर्शिता दिखलाते हुए उत्तर देते हैं कि केवल देह धारण मात्र के इच्छुक भिक्षु के लिए भी भिक्षाटनादि का नियम देखा ही जाता है। अतः पुत्र-वित्तादि साध्य और उसके साधन कर्म उपासनादि दोनों एषणाओं से सर्वथा मुक्त केवल देह धारण करने के लिए भोजन-आच्छादन मात्र से निर्वाह

---

१. एतेनेति कामाभावेनेति यावत्। २. अप्रतिपत्तिः साभिमानमकर्तव्यतेति यावत्। ३. लिङ्गेऽपीत्यादि — पुत्रवित्तादाविव तत्राप्यभिमानाभावादेव तद्धारणमप्यसंभवीत्यर्थः। ४. लक्षणमिति — मुख्यं पारिव्राज्यमित्यर्थः। लिङ्गं तु तस्यैव परिचायकं शास्त्रोक्तत्वमात्रेण ध्रियमाणं नाभिमानमवलम्बत इति भावः। वस्तुतो विविदिषोरेव लिङ्गधारणनियमो न विदुष इत्येवाभिप्रायः। ५. धर्मकारणमिति — मुख्यलक्षणमिति यावत्। ६. अभिमानात्मक इति — लिङ्गधारणस्याप्यभिमानाधीनत्वात्तन्निरासोऽप्यत एवेति भावः। तस्याप्यविवक्षितत्वाविशेषादित्यवधेयम्। ७. भिक्षाटनादिनैवेति — भिक्षाटनादिनैव वृत्तिं कुर्यादित्येवमादिरूपो नियम इत्यर्थः। ८. अविशेषानिति — नियमद्वयेऽप्यभिमानराहित्यस्य देहधारणार्थत्वस्य च तुल्यत्वादित्यर्थः। ९. न्यायो नियमद्वयेऽप्यविशेष इति यावत्। १०. काक्वेति — वैपरीत्यद्योतकस्वरभेदेन हेतुनेत्यर्थः। ११. व्यतिरेकेणेति — विपरीतलक्षणयेति यावत्। १२. प्राक्प्रणीतमिति — स्वमात्रोद्देशेनाप्रणीतमिति यावत्। १३. अयाचितं देहीत्यनुक्तमित्यर्थः। १४. इत्यादयो नियमा इत्यर्थः।

गृह एवास्त्वासनमिति। न स्वगृहविशेषपरिग्रहनियमस्य [1]कामप्रयुक्तत्वादित्युक्तोत्तरमेतत्। स्वगृहविशेषपरिग्रहाभावे च शरीरधारणमात्रप्रयुक्ताशनाच्छादनार्थिनः स्वपरिग्रहविशेषाभावेऽर्थाद्भिक्षुकत्वमेव। शरीरधारणार्थायां भिक्षाटनादिषु प्रवृत्तौ यथा नियमो भिक्षोः शौचादौ च तथा गृहिणोऽपि विदुषोऽकामिनोऽस्तु नित्यकर्मसु नियमेन प्रवृत्तियावज्जीवादिश्रुतिनियुक्तत्वात्प्रत्यवायपरिहारायेति। एत[2]न्नियोगाविषयत्वेन विदुषः प्रयु(त्यु)क्तमशक्यनियोगत्वाच्चेति।

दयो गृह्यन्ते। देहधारणमात्रार्थिनो भिक्षोरिति पूर्वेणान्वयः। सिद्धान्ती तस्यैवंभूतस्य स्त्रीपरिग्रहोऽस्ति वा न वेति विकल्प्याऽऽद्ये दूषणमाह — न स्वेति। स्वगृहविशेषशब्देन स्त्रीविशेषो गृह्यते। द्वितीये स्त्रीपरिग्रहवत एव द्रव्यपरिग्रहाधिकारात्तदभावेऽर्थाद्द्रव्यपरिग्रहनिवृत्तेस्तदभावे प्रकारान्तरेण जीवनासिद्धेरर्थाद्भिक्षाटनादिनियम एव सिध्यतीत्याह — स्वगृहेति। न च पुत्रादिपरिगृहीतेन जीवनमस्त्विति शङ्क्यम्। तैरपि स्वस्य स्वत्वेन संबन्धाभावे तदीयस्यापि परकीयद्रव्यतुल्यत्वेन तत्रापि भिक्षुत्वनियमादिति। अन्ये तु भिक्षोरपि भिक्षाटनादौ सप्तागारानसंक्लृप्तानित्यादिनियमः शौचादौ च [3]चातुर्गुण्यादिनियमश्च प्रत्यवायपरिहारार्थं यथेष्यते तथा यावज्जीवादिश्रुतिबलात्प्रत्यवायपरिहारार्थं नित्यकर्मणि नियमेन प्रवृत्तिरित्याहुस्तदनुवदति — शरीरधारणार्थायामिति। अकुर्वत एवं गृहेऽवस्थानं पूर्वमते शङ्कितम्। अस्मिन्मते त्वग्निहोत्राद्यनुष्ठानमपि कर्तव्यमिति शङ्कते। तथा पूर्वं परिग्रहव्यावृत्त्यर्थो भिक्षाटनादिविषयो दृष्टशरीरधारणप्रयोजनो नियमो दृष्टान्तत्वेनोक्तः। इह तु स भिक्षाटनादिगतसप्तागारत्वादिविषयोऽदृष्टार्थो दृष्टान्तत्वेनोक्त इति भेदः। दूषयति — एतदिति। तस्य सर्वनियोक्त्रीश्वरात्मत्वाच्च न नियोज्यत्वमित्याद्युक्तमित्याह — अशक्येति।

करने वाले गृहस्थ को भी घर ही में रहना चाहिए। उनका ऐसा कहना ठीक नहीं हैं, क्योंकि अपने गृह विशेष के परिग्रह का नियम भावना प्रयुक्त ही है। इस प्रकार उपर्युक्त बातों का उत्तर पहले दिया जा चुका है, और अपने गृह विशेष के परिग्रह का अभाव हो जाने पर तो भिक्षुकत्व स्वतः ही सिद्ध है क्योंकि केवल शरीर धारण मात्र के लिए भोजन-आच्छादनादि की इच्छा करने वाले पुरुष में अपने परिग्रह विशेष का अभाव ही है जैसे भिक्षुक के लिए शरीर रक्षा के उपयोगी भिक्षाटनादि में प्रवृत्ति एवं शौचादि का नियम है उसी प्रकार विद्वान् और निष्काम गृहस्थ को भी यावज्जीवादि श्रुति से नियुक्त होने के कारण प्रत्यवाय की निवृत्ति के लिए नित्य कर्मों में नियम से प्रवृत्ति हो सकती है। इसका खण्डन पहले किया ज़ा चुका है कि विद्वान् नियोग का अविषय होने के कारण नियुक्त नहीं किया जा सकता।

---

१. कामप्रयुक्तत्वादिति — तथा च गृहासनस्य काममूलकत्वेन तत्सत्त्वे साध्यसाधनेत्याद्युक्तविशेषणद्वयानुपपत्तिर्यथोक्तविशेषणवत्त्वे च न गृहासनं घटत इति भावः। २. नियोगाविषयत्वेन विदुष इति — तथा च यथोक्तनियमो विविदिषोरेव भिक्षोरिति न विद्वाञ्छक्योऽत्र दृष्टान्तयितुमिति इति भावः। ३. चातुर्गुण्येति — तथा च धर्मशास्त्रम् "एका लिङ्गे गुदे तिस्रस्तथा वामकरे दश। उभयोः सप्त दातव्या मृदः शुद्धिमभीप्सता।। एतच्छौचं गृहस्थानां द्विगुणं ब्रह्मचारिणाम्। त्रिगुणं च वनस्थानां यतीनां तु चतुर्गुणम्" इति।

यावज्जीवादिनित्यचोदनानर्थक्यमिति चेत्। न। अविद्वद्विषयत्वेनार्थवत्त्वात्। यत्तु भिक्षोः शरीरधारणमात्रप्रवृत्तस्य प्रवृत्ते[1]र्नियतत्वं, तत्प्रवृत्तेर्न प्रयोजकम्। आचमनप्रवृत्तस्य पिपासापगमवन्नान्यप्रयोजनार्थत्वमवगम्यते। न चाग्निहोत्रादीनां तद्वदर्थप्राप्तप्रवृत्तिनियतत्वोपपत्तिः।

अर्थप्राप्तप्रवृत्तिनियमोऽपि प्रयोजनाभावेऽनुपपन्न एवेति चेत्। न। तन्नियमस्य

तर्हि तच्छ्रुतेरप्रामाण्ये भिक्षाटनादिनियमविधेरपि तत्स्यादित्याभिप्रायेण शङ्कते — यावज्जीवेति। अविदुषि नियोज्ये तत्प्रामाण्यं घटत इति नोक्तदोष इत्याह — नेति। [2]तदुक्तप्रतिबन्दीं [3]परिहर्तुमनुवदति — यत्त्विति। दूषयति — तत्प्रवृत्तेरिति। आचमनविधिनाऽऽचमने प्रवृत्तस्याऽऽर्थिको यः पिपासापगमस्तस्य यथा मान्यप्रयोजनार्थत्वं प्रयोजनं प्रयुक्तिस्तदर्थत्वं नाऽऽचमनप्रवृत्तिप्रयोजकत्वम्। तद्वज्जीवनार्थं भिक्षादौ प्रवृत्तस्य यस्तत्र नियमः स न भिक्षादिप्रवृत्तेः प्रयोजक इत्यर्थः। एतदुक्तं भवति नियोज्यत्वाभावात्किल ब्रह्मविदो नियमविध्यनुपपत्तिराशङ्क्यते। तन्न युज्यते। कथम्। नियोज्यो हि नियोगसिद्ध्यर्थमपेक्ष्यते। नियोगश्च प्रवृत्तिसिद्ध्यर्थम्। प्रवृत्तिश्चे[4]दन्यतः सिद्धा किं नियोगेन। अत एव [5]दर्शपूर्णमासनियोगादेवावहननेनियमेन प्रवृत्तिसिद्धौ [6]तत्र न पृथङ्नियोगोऽङ्गीक्रियते। तदभावे च न नियोज्यापेक्षेति ब्रह्मविदो नियोज्यत्वाभावेऽपि [7]न नियमविध्यनुपपत्तिरिति। अग्निहोत्रादिप्रवृत्तेस्त्वन्यतोऽसिद्धत्वेन तद्विधित एव तत्र प्रवृत्तेर्वक्तव्येन (क्तव्यत्वेन) तत्सिद्ध्यर्थं तत्र नियोगे वाच्ये तस्य तत्र नियोज्यापेक्षेति [8]वैषम्यमाह — न चाग्निहोत्रेति।

नियमविधौ नियोज्यानपेक्षायामपि तस्य क्लेशात्मकत्वात्प्रयोजनापेक्षा वाच्या। तदभावान्न नियमः सिध्यतीति शङ्कते — अर्थप्राप्तेति। तन्नियमस्यापि पूर्ववासनावशादेव प्राप्तत्वात्तत्रापि न [9]नियमविधेरवकाशो येन प्रयोजनापेक्षा स्यादिति परिहरति — न तदिति। यद्यपि नियतेन वाऽनियतेन

पूर्वपक्ष :- एसी स्थिति में "यावज्जीवन अग्निहोत्र करे" इत्यादि नित्य विधि अनर्थक हो जाएगी। सिद्धान्ती :- ऐसा कहना ठीक नहीं। उक्त विधि का विषय अविद्वान् होने के कारण उसकी सार्थकता बनी रहती है। केवल शरीर धारण मात्र के लिए भिक्षाटनादि में प्रवृत्त होने वाले यति की प्रवृत्ति का जो नियतत्व है, वह उसकी प्रवृत्ति का प्रयोजक नहीं। आचमन में प्रवृत्त पुरुष की पिपासा निवृत्ति की भाँति उस यति के क्षुधा निवृत्ति आदि के अतिरिक्त भिक्षाटनादि का प्रयोजन नहीं जान पड़ता है परन्तु उक्त भिक्षुक विद्वान् के समान अग्निहोत्रादि कर्मों की स्वतः प्राप्त प्रवृत्ति को नियत करना सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि अग्निहोत्रादि में स्वर्गादि की कामना से ही प्रवृत्ति होती है। दृष्टफल क्षुधा निवृत्ति के लिए भिक्षाटनादि में स्वाभाविक प्रवृत्ति के समान अग्निहोत्रादि में प्रवृत्ति नहीं होती है।

---

१. नियतत्वं नियमविधिरिति यावत्। २. तदुक्तेति — शरीरधारणार्थायामित्यादिना पूर्वपक्ष्युक्तेत्यर्थः। ३. परिहर्तुं प्रकारान्तरेणेति बोध्यं प्रत्युक्तमिति — पूर्वमुक्तत्वात्। ४. अन्यतो जीवनार्थत्वेनेति यावत्। ५. दर्शपूर्णमासनियोगादिति — अवघातनिष्पन्नतण्डुलद्रव्यकत्वेनावधृतकर्मविशेषविषयादिति यावत्। ६. तत्र नेति — तथा च व्रीहीनवहन्तीत्यस्य नियमविधेर्न दर्शपूर्णमासनियोगातिरिक्तनियोगत्वमपितु तदन्तर्भावेणैव तथात्वमित्यभिप्रायः। ७. न नियमेति — नियोगशून्यं तत्स्वरूपमात्रमार्थिकार्थबोधकं नोपरुध्यत इति यावत्। ८. वैषम्यमिति — तथा च नोक्ता प्रतिबन्द्युपपद्यत इति भावः। ९: नियमविधेरवकाश इति — नियमविध्यायत्तत्वमिति यावत्।

पूर्वप्रवृत्तिसिद्धत्वात्तदतिक्रमे यत्नगौरवादर्थप्राप्तस्य व्युत्थानस्य पुनर्वचनाद्विदुषः कर्तव्यत्वोपपत्तिः।

अविदुषाऽपि मुमुक्षुणा पारिव्राज्यं कर्तव्यमेव। तथा च "शान्तो दान्तः" (बृ. ४-४-२३)

भिक्षाटनादिना जीवनं सिध्यति तथाऽपि विद्योत्पत्तेः पूर्वं विद्यासिद्ध्यर्थं नियमस्यानुष्ठितत्वात्तद्वासनाप्राबल्याद्विद्योत्पत्त्यनन्तरमपि नियम एव प्रवर्तते नानियमे। तद्वासनानां नियमवासनाभिरत्यन्तमभिभूतत्वेन पुनस्तदुद्बोधनस्य यत्नसाध्यत्वात्ततस्तत्र न प्रवर्तत इति नियमोऽप्यर्थसिद्ध इत्यर्थः। एतेन प्रत्यवायपरिहारार्थत्वमपि नियमानुष्ठानस्य निरस्तं, तस्य विदुषः प्रत्यवायाप्रसक्तेरिति। एवमुक्तरीत्या व्युत्थानस्य विधिं बिना स्वतः प्राप्तत्वेऽपि सति तत्कर्तव्यताविधिमपि विदित्वा व्युत्थायेत्यादिकमनुमोदते विद्वानित्याह — अर्थप्राप्तस्येति। विधितः कर्तव्यत्वोपपत्तिरित्यर्थः। न च विधेः प्रयोजनाभावोऽप्रवर्तकत्वादिति वाच्यम्। प्रैषोच्चारणाभयदानादिवैधमुख्यधर्मप्राप्त्यर्थत्वेन विधेरर्थवत्त्वात्। न च तस्यापि वैयर्थ्यं शङ्क्यम्। विदुषि परमहंसे लोकसंग्रहार्थत्वात्। तस्य तु संग्रहस्य [1]पूर्वाभ्यस्तमैत्रीकरुणादिवासनाप्राप्तत्वेन ब्रह्मविद्योपदेशादाविव प्रयोजनानपेक्षणात्। [2]यद्वा [3]प्रारब्धकर्माक्षिप्तदेहेन्द्रियादिप्रतिभासेना[4]विचारितयावज्जीवादिश्रुतिजनितकर्मकर्तव्यताभ्रान्तौ तन्निवर्तनेन वा विदुषो व्युत्थानविधेरर्थवत्त्वोपपत्तिरिति भावः।

एवं विदुषो व्युत्थानप्रसाधनेन विद्याया अकर्मिनिष्ठत्वं साधितम्। तेनैव च तस्याः कर्मासंबन्धोऽप्यर्थात्साधितः। इदानीं विविदिषोरपि व्युत्थानं प्रसाधयन्विद्यायाः कर्मिनिष्ठत्वं कर्मसंबन्धित्वं च दूरापास्तमित्याह — अविदुषाऽपीति। तत्र श्रुतिमाह — तथा चेति। 'उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवाऽऽत्मानं पश्येदि'ति श्रुतिशेषः। तत्रोपरतशब्देन संन्यासो विहित इति भावः। शमादिसाध-

---

पूर्वपक्ष :- परन्तु प्रयोजन का अभाव हो जाने पर स्वतःप्राप्त प्रवृत्ति का नियम भी असंगत ही है। सिद्धान्ती :- ऐसा कहना भी ठीक नहीं क्योंकि वह भिक्षाटनादि नियम पूर्व प्रवृत्ति से सिद्ध होने के कारण उसके अतिक्रमण करने में अधिक प्रयत्न की आवश्यकता है और स्वभावतः प्राप्त व्युत्थान का (एषणा से ऊपर उठकर भिक्षाचर्या करते हैं- इत्यादि वाक्यों से) पुनर्विधान किया गया है। अतः विद्वान् मुमुक्षु के लिए उसकी कर्तव्यता युक्ति-युक्त ही है।

अविद्वान् मुमुक्षु को भी संन्यास करना ही चाहिए। इस विषय में "शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः" इत्यादि वचन प्रमाण हैं। आत्मदर्शन के साधन शम-दमादिकों का सम्यगनुष्ठान अन्य आश्रमों में

---

१. पूर्वेति — चित्तशोधनानुष्ठानकाल इत्यर्थः। तथा च योगशास्त्रं मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनमिति। २. संभवतीत्येव पक्षान्तरमाह — यद्वेत्यादिना। ३. श्रुत्या भ्रान्तौ जननीयायामपेक्षितं हेतुमाह — प्रारब्धेत्यादिना। प्रारब्धेन रक्षितो यावद्देहादिप्रतिभासस्तावत् कर्मार्हं जीवनं श्रुतिश्च यावज्जीवं कर्मार्हेति — भवेदपि कदाचित्तत्कर्तव्यताविभ्रमस्तन्निवृत्त्यर्थमप्यपेक्ष्यत एव व्युत्थानविधिरिति सोऽर्थवानित्यर्थः। ४. नन्वीश्वरात्मतामापन्नस्यापि विदुषो विभ्रमस्तदुत्पत्तिश्च प्रमाणत इत्यनाश्वास्यमेतदित्याशङ्क्य श्रुतिं विशिनष्टि - अविचारितेति। परमार्थत ईश्वरत्वेऽपि यावद्देहादिप्रतिभासस्तावत्प्रमाणव्यवहार इव भ्रमव्यवहारोऽपि विदुषो नानुपपन्नो, नहि कदाचिद्रज्जुसर्पादिकमपि नासावीक्षते ततो यावदज्ञविषयेयं श्रुतिरिति नावेक्ष्यते तावत्तयापि शक्य एव विभ्रमो जनयितुं प्रामाण्यं च तस्या अज्ञं प्रत्येवेति सर्वं समञ्जसम्। अत्र चैकस्मिन्नेव वाक्ये यद्वावाशब्दयोरेकतरोऽतिरिच्यत एवेति स प्रामादिकः।

इत्यादिवचनंप्रमाणम्। शमदमादीनां चाऽऽत्मदर्शनसाधनानामन्याश्रमेष्वनुपपत्तेः। "अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यगृषिसंघजुष्टम्" (श्वे. ६-२१) इति च श्वेताश्वतरे विज्ञायते। "न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः" (कै. ३) इति च कैवल्यश्रुतिः। "ज्ञात्वा नैष्कर्म्यमाचरेत्" इति च स्मृतेः। "ब्रह्माश्रमपदे वसेत्" इति च। ब्रह्मचर्यादिविद्यासाधनानां च साकल्येनान्त्याश्रमिषूपपत्तेर्गार्हस्थ्येऽसंभवात्।

न चासंपन्नं साधनं कस्यचिदर्थस्य साधनायालम्। [1]यद्विज्ञानोपयोगीनि च

नानां पौष्कल्येनानुष्ठानस्य गृहस्थादिष्वसंभवात्तद्विधिनाऽप्यर्थादाक्षिप्यते संन्यास इति श्रुतार्थापत्तिमप्याह – शमदमादीनां चेति। चशब्द [2]उपरतशब्दसमुच्चायार्थः। नेदं विद्वद्विषयम्। तस्य साधनविधिवैयर्थ्यात्। किंतु विविदिषुविषयमिति वक्तुमात्मदर्शनसाधनामित्युक्तम्। अत्याश्रमिभ्य इति। ब्रह्मचर्यादीन्हंसान्तानाश्रमधर्मवत आश्रमानतिक्रम्य वर्तते परमहंस इति सोऽत्याश्रमशब्देनोच्यत इति तद्विधिरत्र प्रतीयत इत्यर्थः। ऋषिसंघजुष्टं मन्त्रसमूहैर्ज्ञानिसमूहैर्वा सेवितं तत्त्वं प्रोवाचेत्यर्थः। न कर्मणेति। त्यागस्य साक्षादमृतत्वसाधनत्वाभावेनामृतत्वसाधनं ज्ञानं त्यागेनाऽऽनशुः प्राप्तवन्त इत्यभिधानेन ज्ञानसाधनत्वेन त्यागोऽत्र विहित इत्यर्थः। ज्ञात्वेति। आपाततो ब्रह्म ज्ञात्वा निश्चयार्थं नैष्कर्म्यं कर्मत्यागरूपं संन्यासमाचरेदिति स्मृत्यर्थः। ब्रह्मेति। ब्रह्मज्ञानसाधनीभूत आश्रमो ब्रह्माश्रमः संन्यास इत्यर्थः। किंच "एकाकी यतचित्तात्मा" (गी. ६-१०) इत्याद्युपक्रम्य "ब्रह्मचारिव्रते स्थितः। मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः" (गी. ६-१४) इत्यन्तेन ब्रह्मचर्यादिसाधनविधिबलादप्यर्थात्संन्यासविधिरित्याह – ब्रह्मचर्यादीति।

ननु गृहस्थस्याप्यृतुकालमात्रगमनलक्षणं ब्रह्मचर्यं कदाचिद्ध्यानकाल एकाकित्वादिकं च संभवतीत्याशङ्क्य तस्यापुष्कलसाधनत्वात्ततो ज्ञानासिद्धेर्ध्यानकाले पत्नीसंबन्धाप्रसक्तेः[3]तद्विधिवैयर्थ्याच्च नैवमित्याह – न चेति। अतो न कर्मिनिष्ठत्वं कर्मसंबन्धित्वं चाऽऽत्मज्ञानस्येत्यर्थः। यत्तु कर्म च बृहतीसहस्रलक्षणं प्रस्तुत्याहाऽऽत्मज्ञानं प्रारभ्यत इत्यादिना कर्मसंबन्धित्वमुक्तं, तत्राऽऽह– यद्वि-

सम्भव भी नहीं है। इसीलिए "मन्त्रद्रष्टा ऋषियों द्वारा अच्छी प्रकार सेवित उस परम पवित्र तत्त्व का उपदेश परमहंसों को किया गया" इत्यादि श्वेताश्वतरोपनिषद् में बतलाया गया है तथा "न कर्म से, न प्रजा से और न धन से ही अमरत्व प्राप्त किया है" ऐसी कैवल्य श्रुति भी है और "उस तत्त्वको जानकर नैष्कर्म्य का आचरण करे" इस स्मृति से भी ऐसा ही सिद्ध होता है। "ब्रह्मज्ञान के साधन संन्यास आश्रम में वास करें" इस स्मृति के अनुसार ज्ञान प्राप्ति के साधन ब्रह्मचर्यादिकों की सिद्धि भी सम्यक् प्रकार से अत्याश्रमी परमहंसों में ही हो सकती है। गृहस्थ आश्रम में उन साधनों का होना असम्भव ही है।

अधूरा साधन किसी अर्थ को सिद्ध करने में समर्थ नहीं होता। जिस विज्ञान में गृहस्थ

१. यद्विज्ञानेति – यच्छब्दष्टीकोक्तदिशाऽध्याहारेण नेतव्योऽन्यथा यानीति स्यात्। विज्ञानोपयोगीनीति कोऽर्थः शुद्धिद्वारा साधनानि मातावत् तेषां फलं संसारविषयमिति किम्। विज्ञानं तर्हि हिरण्यगर्भोपास्तिस्तत्संबन्धीनि साधु साधु। यद्वा निष्कामतात्पर्येण विशेषणं सकामाभिप्रायेण च फलोपसंहार इत्यविरोधः। २. उपरतशब्देति – उपरतश्रुतीत्यर्थः। अर्थापत्त्या श्रुतेः समुच्चयार्थ इत्यर्थः। ३. तद्विधिवैयर्थ्यादिति – एकाकित्वेन पत्न्यसंबन्धो विवक्ष्यते ~~ ध्यानकाले प्राप्तत्वादेव तद्विधानमनर्थकमिति भावः।

गार्हस्थ्याश्रमकर्माणि तेषां परं फलमुपसंहृतं देवताप्ययलक्षणं संसारविषयमेव।

यदि कर्मिण एव परमात्मविज्ञानमभविष्यत्संसारविषयस्यैव फलस्योपसंहारो [1]नोपापत्स्यत। अङ्गफलं तदिति चेन्न। तद्विरोध्यात्मवस्तुविषत्वादात्मविद्यायाः। निराकृतसर्वनामरूपकर्मपरमार्थात्मवस्तुविषयं ज्ञानममृतत्वसाधनम्। गुणफलसंबन्धे हि निराकृतसर्वविशेषात्मवस्तुविषयत्वं विज्ञानस्य न प्राप्नोति तच्चानिष्टम्। "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्" (बृ. ४-५-१५) इत्यधिकृत्य क्रियाकारकफलादिसर्वव्यवहारनिराकरणाद्विदुषः। तद्विपरीतस्याविदुषो "यत्र हि द्वैतमिव" (बृ. ४-५-१५) इत्युक्त्वा क्रियाकारकफलरूपस्यैव संसारस्य दर्शितत्वाच्च वाजसनेयिब्राह्मणे। तथेहापि देवताप्ययसंसारविषयं यत्फलमशनाया-

---

ज्ञानेति। तथा च पूर्वोक्तं कर्मसंबन्धि ज्ञानं संसारफलकमन्यदेव तच्चोपसंहृतमिति [2]न तत्परमात्मज्ञानमित्यर्थः।

ननु पूर्वोक्तमेव परमात्मज्ञानं तच्च कर्मसंबन्ध्येवेत्याशङ्क्य तस्य संसारफलकत्वेनोपसंहारात्परमात्मज्ञानस्य च मुक्तिफलकत्वान्न तत्परमात्मज्ञानमित्याह — यदि कर्मिण एवेति। कर्मिनिष्ठत्वेनोक्तज्ञानमेव परमात्मज्ञानं चेदित्यर्थः। परमात्मज्ञानाङ्गभूतपृथिव्यग्न्यादिदेवताज्ञानस्य तत्संसारफलं नाङ्गिनः परमात्मज्ञानस्येति न तस्य मुक्तिफलत्वविरोध इति शङ्कते — अङ्गेति। परमात्मज्ञानस्या[3]ङ्गसंबन्धफलसंबन्धादिसर्वविशेषरहितनिर्विशेषवस्तुविषयत्वान्न तस्याङ्गादिसंबन्धित्वं येन तदङ्गविषयत्वमुक्तफलस्य स्यादिति परिहरति — न तदिति। तदेव स्पष्टयति — निराकृतेत्यादिना। तच्चानिष्टमिति। आत्मा वा इत्यादिभिरुपक्रमादिलिङ्गैरात्मनो निर्विशेषत्वसिद्धेरित्यर्थः। वाजसनेयिब्राह्मणे च परमात्मविदः सर्वसंबन्धशून्यत्वमुक्त्वाऽविदुषः संसारफलोक्तेश्चेह संसारफलकस्यातीतस्य ज्ञानस्य न परमात्मज्ञानत्वं, वक्ष्यमाणस्य निर्विशेषवस्तुविषयस्यैव परमात्मज्ञानत्वं मुक्तिफलत्वं चेत्याह — यत्रेत्यादिना। तथेहापीतिवाक्ये फलपदद्वयपाठ एकं पदं निष्पाद्यत्वार्थकं निष्पाद्यत्वादपि संसारविषयं संसारान्तर्गतमिति वक्तुम्।

आश्रम के कर्म उपयोगी हैं उसके फल का उपसंहार किया जा चुका है क्योंकि उसका परमफल देवता में विलय होना रूप संसार विषयक ही है। यदि कर्मी को ही परमात्मा का साक्षात् ज्ञान होना सम्भव था तो संसार विषयक फल का उपसंहार कभी भी नहीं करते।

पूर्वपक्ष :- यदि कहो कि वह (देवता लयरूप संसार विषयक) कर्म का फल गौण है (मुख्यफल परमात्मा का साक्षात्कार ही है) सिद्धान्ती :- ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि आत्मविद्या कर्म के विरोधी आत्मतत्त्व से सम्बन्ध रखने वाली है। सभी नाम, रूप और कर्म से रहित परमार्थ आत्मवस्तु विषयक ज्ञान अमरत्व का साधन है, उससे गौणफल का सम्बन्ध मानने पर निर्विशेष आत्मवस्तु से सम्बन्धित ज्ञान का होना सिद्ध नहीं होता और वह इष्ट भी नहीं क्योंकि "जहाँ इस तत्त्वज्ञानी के लिये सब कुछ आत्मा ही हो गया" इस प्रकार प्रसंग प्रारम्भ कर विद्वान् के लिए क्रिया, कारक और फलादि सम्पूर्ण व्यवहार का निराकरण कर दिया गया, उसके विपरीत अविद्वान् के लिये उसी वाजसनेयी ब्राह्मण में "जहाँ पर द्वैत के समान होता है" ऐसा कहकर क्रिया, कारक और फलरूप संसार विषय को दिख-

---

१. नोपापत्स्यतेति — उपपन्नश्चासौ प्रामाणिकत्वादिति न तत्परात्मज्ञानमित्यर्थः। २. न तदिति — तस्यैव परमात्मज्ञानत्वे संसारफलकत्वं नोपसंह्रियेतेति भावः। ३. अङ्गसंबन्धादिसर्वविशेषेति पाठः।

दिमद्वस्त्वात्मकं तत्फलमुपसंहृत्य केवलसर्वात्मकवस्तुविषयं ज्ञानममृतत्वाय वक्ष्यामीति प्रवर्तते।

ऋणप्रतिबन्धश्चाविदुष एव मनुष्यपितृ[1]देवलोकप्राप्तिं प्रति, न विदुषः। "सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव" (बृ. १-५-१६) इत्यादिलोकत्रयसाधननियमश्रुतेः। विदुषश्चर्णप्रतिबन्धाभावो दर्शित आत्मलोकार्थिनः "किं प्रजया करिष्यामः" (बृ. ४-४-२२) इत्यादिना। तथा "एतद्ध स्म वै तद्विद्वांस आहुर्ऋषयः कावषेयाः" इत्यादि। "एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वांसोऽग्निहोत्रं न

एवं कर्मासंबन्धित्वं ज्ञानस्योक्त्वा यावज्जीवादिश्रुतेः कर्मत्यागो न संभवतीति यत्पूर्ववादिनोक्तं तत्र यावज्जीवादिश्रुतेरविद्वद्विषयत्वमुक्तम्। ऋणश्रुतेरिदानीं गतिमाह — ऋणेति। ऋणस्यानपाकृतस्य मनुष्यादिलोकप्राप्तिं प्रति प्रतिबन्धकत्वात्तदर्थिनोऽविदुष एवर्णापाकरणं कर्तव्यं न मुमुक्षोः। मुक्तिं प्रति तस्याप्रतिबन्धकत्वादित्यर्थः। नन्वृणस्य मुक्तिं प्रत्यपि प्रतिबन्धकत्वमस्तु [2]विशेषाभावात्। [3]अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः" इति स्मृतेश्चेत्याशङ्क्याऽऽह — सोऽयमिति "सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोकः" (बृ. १-५-१६) इति श्रुतेः, पुत्रादीनां मनुष्यलोकादिहेतुत्वावगमात्पुत्रादिभिरपाकर्तव्यानां पुत्राद्यभावरूपाणामृणानां पुत्रादिसाध्यलोकप्राप्तिं प्रति प्रतिबन्धकत्वमेव [4]युक्तम्। ऋणानपाकरणे पुत्रादिसाधनाभावेन साध्यलोकाभावात्। न मुक्तिं प्रति, तस्यास्तदभावरूपपुत्रादिसाध्यत्वाभावात्। [5]स्मृतेश्च रागिणं प्रति [6]संन्यासनिन्दार्थवादमात्रत्वादित्यर्थः। न केवल[7]मुक्तन्यायतो मुक्तिं प्रत्यप्रतिबन्धकत्वं किंतु श्रुतितोऽपीत्याह — विदुषश्चेति। श्रुतित्रयेण क्रमेण प्रजाध्ययनकर्मणामननुष्ठितानामप्रतिबन्धकत्वं दर्शितम्। [8]कावषेया इत्यनन्तरं किमर्था वयमध्येष्यामह इति शेषो द्रष्टव्यः।

लाया गया है। ऐसा ही यहाँ भी जो क्षुधा-पिपासादि युक्त वस्तुरूप संसार से सम्बन्धित देवता विलय नामक फल है, उसका उपसंहार कर अब केवल सर्वात्मक वस्तु विषयक ज्ञान को ही अमृत प्राप्ति के लिए बतलाऊँगी ऐसे अभिप्राय से श्रुति प्रवृत्त होती है।

तथा देवलोक, पितृलोक और मनुष्य लोक की प्राप्ति में ऋणों का प्रतिबन्ध अज्ञानी के लिये ही है, ज्ञानी के लिए नहीं। ऐसा ही "उस इस मनुष्य लोक को पुत्र के द्वारा ही जीता जा सकता है" इत्यादि लोकत्रय प्राप्ति के साधन की नियामिका श्रुति है एवं आत्मलोक को चाहने वाले विद्वान् के लिए "हम प्रजा से क्या करेंगे" इत्यादि वाक्यों द्वारा ऋणों के प्रतिबन्ध का

---

१. अध्ययनमपि विद्यया देवलोक इत्यविद्यात्वेन शक्यं ग्रहीतुमित्याशयेनाह — देवेति। २. विशेषाभावादिति — यथोक्तलोकमात्रप्रतिबन्धकत्वे नियामकाभावादित्यर्थः। वैदिकफलत्वस्य मुक्तावपि समत्वादिति वा। ३. मोक्षप्रतिबन्धकत्वे नियामकसत्त्वाच्चेत्याह — अनपाकृत्येति। ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेदिति पूर्वमर्धम्। ४. युक्तमिति — कारणीभूताभावप्रतियोगित्वमेव प्रतिबन्धकत्वमिति नियमात्मकयुक्तिमदित्यर्थः। ५. श्रुतिविरोधे स्मृतेरन्यथानयनं न दुष्यतीत्याशयेनाह — स्मृतेश्चेत्यादि। श्रुतिविरोधस्त्वनुपदमेव स्फुटी भवति। ६. संन्यासनिन्देति — सा च विधेयप्रशंसायामेव पर्यवस्यति विधेयं चर्णापाकरणमेवेत्यवधेयम्। ७. उक्तन्यायः कारणीभूताभावेत्याद्युक्तो नियम इति यावत्। ८. अध्ययनोपेक्षावचनस्य मूलतोऽप्रतीतिमाशङ्क्याऽऽह — कावषेया इति।

जुहवांचक्रुः" (कौ. २-५) इति च कौषीतकिनाम्।

अविदुषस्तर्ह्यृणानपाकरणे पारिव्राज्यानुपपत्तिरिति चेत्। न। प्राग्गार्हस्थ्यप्रतिपत्तेर्ऋणित्वासंभवादधिकारानारूढोऽप्यृणी चेत्स्यात्सर्वस्यर्णित्वमित्यनिष्टं प्रसज्येत। प्रतिपन्नगार्हस्थ्यस्यापि "[1]गृहाद्वनी भूत्वा प्रव्रजेद्यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वा" इत्यात्मदर्शनोपायसाधनत्वेनेष्यत एव पारिव्राज्यम्।

शङ्कते — अविदुषस्तर्हीति। यद्यप्यविदुषोऽपि लोकत्रयं प्रत्येव प्रतिबन्धकत्वान्मुक्तिं प्रति प्रतिबन्धकत्वाभावादृणस्यानपाकरणीयत्वान्मुमुक्षोः पारिव्राज्यसंभवादाशङ्का न संभवति तथाऽपि विद्वांस आहुरित्युक्तिश्रवणमात्रेणेयं शङ्का। यद्वा परिहारान्तरं वक्तुमियं शङ्का द्रष्टव्या। [2]गृहस्थस्यैवर्णप्रतिबन्धकत्वं तस्यैव तन्निराकरणाधिकारात्। ततश्च गार्हस्थ्यप्रतिपत्तेः प्राग्ब्रह्मचर्य एव मुमुक्षोः पारिव्राज्यं संभवतीति परिहरति — नेति। यद्यप्युपनयनानन्तरमेवर्ष्यृणनिवर्तनेऽधिकारः संभवतीति प्राग्गार्हस्थ्येत्ययुक्तं तथाऽपि विविदिषासंन्यासेऽधीतवेदस्यैवाधिकार इत्य[3]धीतवेदस्यैव गार्हस्थ्यप्रतिपत्तेः प्रागिति द्रष्टव्यम्। ननु "जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवाञ्जायते ब्रह्मचर्येणर्षिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः" इति जायमानमात्रस्यर्णवत्त्वं प्रतीयत इत्याशङ्क्यर्णित्वोक्तेः प्रयोजनं न [4]साक्षात्किंचिदस्ति किंतु ब्रह्मचर्यादिकर्तव्यताज्ञापनम्। न चाधिकारानारूढस्तत्कर्तुं शक्नोति। जायमानमात्रस्यासामर्थ्यात्। किंच ब्राह्मणग्रहणात्क्षत्त्रियादेर्ऋणाभावप्रसङ्गः। द्विजात्युपलक्षणत्वेऽधिकार्युपलक्षणत्वमेव [5]न्याय्यम्। अतो जायमानपदमधिकारं [6]लक्षयतीति जायमानोऽधिकारी संपद्यमान इति तदर्थः। ततश्च ततः प्राङृर्णसंबन्ध इत्याह — अधिकारेति। अनिष्टमिति। ब्रह्मचारिणोऽप्यृणित्वं ब्रह्मचर्य एव मृतस्य नैष्ठिकस्य च लोकप्रतिबन्धः स्यात्तच्चानिष्टम्। [7]अष्टाशीतिसहस्राणीत्यारभ्य तदेव गुरुवासिनामित्यादिपुराणे लोकप्राप्त्युक्तेरित्यर्थः। न केवलं गार्हस्थ्यात्प्रागेव संन्याससिद्धिः किंतु विधिबलाद्गृहस्थस्यापि तदस्तीत्याह — प्रतिपन्नेति। आत्मदर्शनेति।

अभाव दिखलाया गया है। ऐसी ही 'वे प्रसिद्ध आत्मज्ञानी कावषेय ऋषि बोले मैं कैसे अध्ययन करूँ, कैसे होत करूँ' इत्यादि श्रुति है और ऐसी ही "उस इस आत्मतत्त्व को जानने वाले पूर्ववर्ती विद्वान् अग्निहोत्र नहीं करते थे" यह कौषीतकि शाखावालों की भी श्रुति है।

पूर्वपक्ष :- तब तो अवद्विान् के लिये ऋणों का अपनयन किये बिना संन्यास ग्रहण सिद्ध नहीं होता? **सिद्धान्ती :-** ऐसी बात नहीं है क्योंकि गृहस्थ आश्रम प्राप्ति से पूर्व किसी में भी ऋणित्व सम्भव नहीं। यदि अधिकारारूढ़ न होने वाला पुरुष भी ऋणी हो तो सभी का ऋणी होना सिद्ध हो जायगा और इस प्रकार बड़ा भारी अनिष्ट होने लग जायगा। गृहस्थ आश्रम को प्राप्त हुआ पुरुष भी "गृहस्थ आश्रम से वानप्रस्थ होकर संन्यास करे अथवा अन्य प्रकार से अर्थात् ब्रह्मचर्य से गृहस्थ

---

१. जाबालोपनिषद्.४। २. गृहस्थस्यैवर्णप्रतिबन्धकत्वमिति — गृहस्थं प्रत्येवर्णानां प्रतिबन्धकत्वमित्यर्थः। ३. अधीतवेदस्येति — तथा चर्णद्वयमेवावशिष्यत इति भावः। ४. साक्षादिति — वक्ष्यमाणकर्तव्यताज्ञापनातिरिक्तमिति यावत्। ५. न्याय्यमिति — द्विजातिलक्षणानन्तरं योग्यवयस्कत्वादिविषयलक्षणान्तरकल्पने गौरवादितिभावः। ६. लक्षयतीति — ब्राह्मणपदलक्षिताधिकारिण्यधिकाराविर्भावं कथयतीति यावत्। ७. अष्टाशीतिसहस्राणि मुनीनामूर्ध्वरेतसां यद्ब्रह्मलोकाख्यं फलं भेजुस्तदेव नैष्ठिकानामपि लभ्यमिति पुराणार्थः।

यावज्जीवादिश्रुतीनामविद्वदमुमुक्षुविषये कृतार्थता। छान्दोग्ये च केषांचिद्द्वादशरात्रमग्निहोत्रं हुत्वा तत ऊर्ध्वं परित्यागः श्रूयते।

यत्त्वनधिकृतानां पारिव्राज्यमिति। तन्न। तेषां पृथगेव "उत्सन्नाग्निरनग्निको वा" (जा. ४) इत्यादिश्रवणात्सर्वस्मृतिषु चाविशेषेणाऽऽश्रमविकल्पः प्रसिद्धः समुच्चयश्च।

आत्मदर्शने य उपायाः श्रवणादयस्तत्साधनत्वेनेत्यर्थः। न चर्णश्रुत्या प्रव्रज्याविधेर्विरोधः। तस्या [1]अवदानार्थवादमात्रत्वेन स्वार्थे तात्पर्याभावात्। अन्यथा [2]तदवदानैरेवा[3]वदयते तदवदानानामवदानत्व-मित्यवदानमात्रनिरस्यत्वोक्त्या ब्रह्मचर्यादीनामप्यननुष्ठेयत्वप्रसङ्गादिति भावः एवमपि यावज्जीवादिश्रु-तिविरोधः संन्यासश्रुतेरित्याशङ्क्याऽऽह – यावज्जीवेति। विरक्तमुमुक्षुमात्रविषयिष्या संन्यासश्रुत्या यावज्जीवादिसामान्यश्रुतेरमुमुक्षुविषये संकोच इत्यर्थः। अग्निहोत्रविषयकयावज्जीवादिश्रुतेर्नानयैव संकोचः किंतु श्रुत्यन्तरेणैव द्वादशरात्रानन्तरमग्निहोत्रत्यागविधायिना सा पूर्वमेव संकोचितेति न तां विरोद्धुं शक्नोतीत्याह – छान्दोग्य इति। केषांचिच्छाखिनां "त्रयोदशरात्रमहतवासा यजमानः स्वयमग्निहोत्रं जुहुयाद[4]प्रवसन्न [5]तत्रैव सोमेन पशुना वेष्ट्वाऽग्नीनुत्सृजति" इति श्रूयत इत्यर्थः।

ननु पारिव्राज्यश्रुतिरप्यनधिकृतविषये संकोचितेत्याह – यत्त्विति। वचनान्तरेणैव तेषां तद्वि-धेर्नास्या अनधिकारी विषयः किंत्वधिकार्येवेति परिहरति – तन्नेति। उत्सन्नाग्नि[6]र्नष्टाग्निरनग्निरपरि-गृहीताग्निरिति भेदः। स्मृत्युपबृंहितत्वादपि पारिव्राज्यश्रुतिर्बलीयसीत्याह – सर्वस्मृतिषु चेति। अत एव "ब्रह्मचर्यवान्प्रव्रजति" "बुद्ध्वा कर्माणि [7]यमिच्छेत्तमावसेत्"

"ब्रह्मचारी गृहस्थो वा वानप्रस्थोऽथ [8]भिक्षुकः। य इच्छेत्परमं स्थान[9]मुत्तमां वृत्तिमाश्रयेत्"।।

इत्यादिषु स्मृतिषु विकल्पः प्रसिद्धः।

"अधीत्य विधिवद्वेदान्पुत्रानुत्पाद्य धर्मतः। इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत्"।।

इत्यादिषु समुच्चयश्च सिद्ध इत्यर्थः।

आश्रम से या वानप्रस्थ आश्रम से ही संन्यास करले" इत्यादि श्रुतियों द्वारा आत्मज्ञान का साधनरूप संन्यास प्राप्त हो ही जाता है। केवल अविद्वान् और अमुमुक्षु पुरुषों के सम्बन्ध में यावज्जीवन अग्निहोत्र बतलाने वाली श्रुतियाँ चरितार्थ हो जाती हैं। छान्दोग्य में तो कुछ पुरुषों के लिये बारह रात्रि अग्निहोत्र करने के बाद उसका परित्याग करना भी सुना जाता है।

और जो आपने कहा कि कर्म में अनधिकृत पुरुषों के लिए ही संन्यास का विधान है, ऐसी बात नहीं है क्योंकि उन पुरुषों के सम्बन्ध में "जिसके अग्निहोत्र की अग्नि प्रमादवश शान्त हो गयी है या जिसने अग्नि का परिग्रह ही नहीं किया" इत्यादि पृथक् ही श्रुति है और सभी स्मृतियों में सामान्यरूप से आश्रमों का विकल्प एवं आश्रमों का समुच्चय प्रसिद्ध ही है।

---

१. अवदानेत्यादि – द्विर्हविषोऽवद्यतीत्येवमादि शास्त्रविहितः कर्मविशेषोऽवदानं तदर्थवादश्च तदवदानैरेवावदयत इत्यादिस्तच्छेषत्वेनेति यावत्। २. तत् प्रागुक्तमृणत्रयम्। ३. अवदयते – अपनयत इति यावत्। ४. अप्रवसन्नेति – निश्चेतव्यः पाठः। यथाश्रुते तु नाप्रवसन्नवश्यं प्रवसन् प्रवासं कुर्वन्निति शक्यं व्याख्यातुम्। ५. तत्र – त्रयोदशरात्रे। ६. नष्टाग्निरिति मृतभार्य इत्यर्थः। ७. यमाश्रममित्यर्थः। ८. भिक्षुकः परमहंसातिरिक्तः। ९. उत्तमां वृत्तिं पारमहंस्यमिति यावत्।

यत्तु विदुषोऽर्थप्राप्तं व्युत्थानमित्यशास्त्रार्थत्वे गृहे वने वा तिष्ठतो न विशेष इति तदसत्। व्युत्थानस्यैवार्थप्राप्तत्वान्नान्यत्रावस्थानं स्यात्। अन्यत्रावस्थानस्य कामकर्मप्रयुक्तत्वं ह्यवोचाम। तदभावमात्रं व्युत्थानमिति च।

यथाकामित्वं तु बिदुषोऽत्यन्तमप्राप्तमत्यन्तमूढविषयत्वेनावगमात्। तथा शास्त्रचोदितमपि कर्माऽऽत्मविदोऽप्राप्तुं(प्त) गुरुभारतयाऽवगम्यते किमुतात्यन्ताविवेकनिमित्तं यथाकामित्वम्। न ह्युन्मादतिमिरदृष्ट्युपलब्धं वस्तु तदपगमेऽपि तथैव

एवं विविदिषासंन्यासं प्रसाध्य पूर्वप्रसाधितविद्वत्संन्यासे शङ्कामनुवदति – यत्त्विति। पूर्वत्र गृह एवास्त्वासनमिति शङ्का निरस्ता। इह तु गृहे वा वने वाऽस्त्वासनमित्यनियमशङ्कां निराकर्तुं सा पुनरनूद्यते। यथेष्टचेष्टामधिकां परिहर्तुं चेति द्रष्टव्यम्। यद्यप्यर्थप्राप्तस्यापि पुनर्वचनादित्यत्र विद्वद्व्युत्थानस्यापि शास्त्रार्थत्वमुक्तमेव तथाऽप्यशास्त्रार्थत्वमुक्तमङ्गीकृत्याप्याह – तदसदिति। यदि व्युत्थानवद्गार्हस्थ्यमप्यर्थप्राप्तं स्यात्स्यादेवमनियमो न त्वेतदस्तीत्याह – व्युत्थानस्यैवेति। अन्यत्रेति। गार्हस्थ्य इत्यर्थः। नन्वन्यत्रावस्थानवद्व्युत्थानस्यापि कामादिप्रयुक्तत्व[1]मनुष्ठेयत्वादित्याशङ्क्याऽऽह – तदभावेति। कामाद्यभावमात्रमेव व्युत्थानमित्युक्तत्वात्तस्य नानुष्ठेयत्वमित्यर्थः।

एवमनियमशङ्कां निरस्य व्युत्थानस्याशास्त्रार्थत्वे यथेष्टचेष्टामशङ्क्य निराकरोति – यथाकामित्वमिति। [2]चेष्टामात्रमेव [3]कामादिप्रयुक्तम्। निषिद्धचेष्टा तु शास्त्रार्थज्ञानशून्यात्यन्तमूढविषया। [4]तदुभयं च विदुषो नास्तीति [5]चेष्टामात्रमेवाप्रसक्तं [6]निषिद्धचेष्टा तु दूरापास्तेत्यर्थः। एतदेव विवृणोति – तथेति। तथा हीत्यर्थे तथाशब्दः। गुरुभारतयाऽतिक्लेशतया यतोऽवगम्यतेऽतोऽप्राप्तमित्यन्वयः। अविवेकादिनिमित्तापगमे नैमित्तिकापगम इत्यत्र दृष्टान्तमाह – न हीति। उन्माददृष्ट्युपलब्धं गन्धर्व-

---

और जो आपने कहा कि विद्वान् को कर्म त्याग की स्वतः प्राप्ति कही गयी है, वह शास्त्र का अविषय होने के कारण उसके घर या वन में रहने से कोइ विशेषता नहीं है, ऐसा कहना गलत है। व्युत्थान के स्वतः प्राप्त होने से ही उस विद्वान् की गृहस्थ आश्रम में स्थिति नहीं हो सकती है क्योंकि अन्यत्र स्थिति कामना और कर्म से प्रेरित ही होती है और उसके अभाव को ही व्युत्थान कहते हैं; ऐसा हमने कहा।

अत्यन्त मूढ से सम्बन्धित स्वेच्छाचार तो विद्वान् के लिये अत्यन्त अप्राप्त है और जब अत्यन्त भाररूप होने के कारण शास्त्र विहित कर्म भी अप्राप्त समझा जाता है फिर भला अत्यन्त अविवेक के कारण होने वाले स्वेच्छाचार का तो उसमें प्रसंग ही कैसे आ सकता है। उन्माद या तिमिर रोग से दूषित दृष्टि द्वारा देखी गयी वस्तु उसके निवृत्त होने पर भी वैसे

---

१. अनुष्ठेयत्वादिति – "यद्यद्धि कुरुते जन्तुस्तत्तत्कामस्य चेष्टितम्। अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचिदि" त्युक्तेरिति भावः। २. चेष्टामात्रं विहितं कर्मेति यावत्। ३. कामादीत्यादिना चेष्टासंस्कारग्रहः। कामावान्तरभेदग्रहार्थो वाऽऽदिशब्दः। ४. तदुभयमिति – कामादिः शास्त्रार्थज्ञानशून्यत्वात्मकमत्यन्तमौढ्यं चैतद्द्वयमित्यर्थः। ५. कामाद्यभावप्रयुक्तमाह – चेष्टेत्यादिना। ६. मौढ्याभावफलमाह – निषिद्धेत्यादिना।

स्यादुन्मादतिमिरदृष्टिनिमित्तत्वादेव तस्य। तस्मादात्मविदो व्युत्थानव्यतिरेकेण न यथाकामित्वं न चान्यत्कर्तव्यमित्येतत्सिद्धम्।

यत्तु — "विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयथं सह" (ई. ११) इति न तत्र विद्यावतो विद्यया सहाविद्याऽपि वर्तत इत्ययमर्थः। कस्तर्ह्येकस्मिन्पुरुष एकदैव न सह संबध्येयातामित्यर्थः। यथा शुक्तिकायां रजतशुक्तिकाज्ञाने एकस्य पुरुषस्य। "दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्याइति ज्ञाता"(का. १-२-४) इति हि काठके। तस्मान्न विद्यायां सत्यामविद्यासंभवोऽस्ति। "तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व" (तै. ३-२) इत्यादिश्रुतेः, तपआदिविद्योत्पत्तिसाधनं गुरूपासनादि च कर्माविद्यात्मकत्वादविद्योच्यते। तेन विद्यामुत्पाद्य मृत्युं काममतितरति। ततो निष्कामस्त्यक्तैषणो ब्रह्मविद्ययाऽमृतत्वमश्नुते इत्येतमर्थं दर्शयन्नाह — "अविद्यया मृत्युं

नगरादि तिमिरदृष्ट्युपलब्धं द्विचन्द्रादीति विवेकः। न चान्यदिति। वैदिकं कर्मेत्यर्थः।

ननु विद्ययाऽविद्यायाः सहभावश्रवणाद्विदुषोऽपि तन्मूलकामादिकं स्यादेवेति तन्निमित्ता यथेष्टचेष्टा स्यादित्यत आह — यत्त्विति। यत्तु विद्यां चेति वचनं तस्य नायमर्थ इति तस्येतिशब्दाध्याहारेण वाक्यं योज्यम्। एकस्मिन्निति। कालभेदेन स्थितयोरप्येकस्मिन्पुरुषे साहित्यं तदर्थ इत्यर्थः। नन्विदं साहित्यं न [1]स्वरसं किंत्वेककाले साहित्यं स (स्व) रसमित्याशङ्क्य श्रुत्यन्तरे विद्याविद्ययोः साक्षात्साहित्यस्यासंभवोक्तेरुक्तमेव साहित्यं ग्राह्यमित्याह — दूरमेते इति। विषूची विष्वग्गमने विरुद्धे इत्यर्थः। अस्मिन्नपि मन्त्रेऽविद्यया मृत्युं तीर्त्वेत्युत्तरार्धपर्यालोचनयाऽविद्याया विद्योत्पत्ति हेतुत्वावगमात्तयोः कालभेदेनैव [2]सहत्वमित्याह — तपसेत्यादिना। यद्वा गुरूपासनतपसी अविद्येत्युच्यते। तयोश्च श्रवणकालेऽनुष्ठेयत्वाद्विद्योत्पत्तिकाल एकस्मिंस्तयोः साहित्यकस्तीत्य[3]र्थान्तरमाह — तपसेति। अस्मिन्नर्थे मन्त्रशेषोऽप्यनुगुण इत्याह —तेन विद्यामिति। साक्षादविद्याया मृत्युत्वेन मृत्युतरणहेतुत्वा-

---

ही नहीं रह जाती, क्योंकि वह तो उन्माद या तिमिर दृष्टि के कारण ही वैसी दीखती थी। अतः यह बात सिद्ध हुई कि आत्मज्ञानी के लिये व्युत्थान को छोड़कर न स्वेच्छाचार है और न कोई अन्य ही कर्तव्य शेष रहता है।

और जो आपने कहा था कि "जो विद्या और अविद्या दोनों को एक साथ-साथ जानता है" इत्यादि वह इसलिये नहीं कि ज्ञानी में विद्या के साथ-साथ अविद्या भी रहती है फिर उसका तात्पर्य क्या है? उसका तात्पर्य यही है कि एक ही पुरुष में एक कालावच्छेदेन विद्या और अविद्या दोनों नहीं रह सकती हैं जैसे सीप में एक ही पुरुष को एक ही समय चाँदी और सीप दोनों का ज्ञान नहीं हो सकता है। ऐसा ही काठकोपनिषत् में भी कहा है "जो विद्या अविद्या नाम से जानी जाती है वे परस्पर अत्यन्त विरुद्ध स्वभाव वाली हैं। अतः विद्या के रहते-रहते अविद्या का रहना किसी प्रकार सम्भव नहीं है।" "तप से ब्रह्म को जानने की इच्छा कर" इत्यादि श्रुति से तप आदि विद्योत्पत्ति के साधन और आचार्य उपासनादि कर्म अविद्यामय होने के कारण अविद्या शब्द से कहे गये हैं। उस अविद्यारूप कर्म से विद्या को उत्पन्न कर वह कामनारूप मृत्यु को पार कर जाता है तब वह निष्काम और

---

१. स्वरसमिति — तात्पर्यविषयीभूतमित्यर्थः। मुख्यमिति वा। २. सहत्वं सहवर्तित्वम्। ३. अर्थान्तरमिति — विद्यां चाविद्यां चेत्यादेरिति भावः।

तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते" (ई. ११) इति। यत्तु [1]पुरुषायुः सर्वं कर्मणैव व्याप्तं "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः" (ई. २) [2]इत्यविद्वद्विषयत्वेन परिहृतमितरथाऽसंभवात्। यत्तु वक्ष्यमाणमपि पूर्वोक्त [3]तुल्यत्वात्कर्मणाऽविरुद्धमात्मज्ञानमिति तत्सविशेषनिर्विशेषात्मतया प्रत्युक्त मुत्तरत्र व्याख्याने च दर्शयिष्यामः। अतः केवलनिष्क्रियब्रह्मात्मैकत्वविद्याप्रदर्शनार्थमुत्तरो ग्रन्थ आरभ्यते।

नुपपत्तेरविद्याशब्देन तपआदिकमेवोच्यते। [4]विद्याव्यवधानं चार्थात्कल्प्यत इत्यर्थः। अविद्वद्विषयत्वेनेति। जिजीविषेदिति। जीवितेच्छारूपाविद्याकार्येण तस्याः सूचनादित्यर्थः। परिहृतमिति। यावज्जीवादिश्रुति[5]न्यायेन परिहृतप्रायमित्यर्थः। यद्वा [6]नाविशेषादितिसूत्रेण परिहृतमित्यर्थः। असंभवादिति। विरोधेन विद्यया सहा[7]संभवादित्यर्थः। [8]उदाहृतश्रुतिस्मृत्यसंभवादिति वा। प्रत्युक्तमिति। निर्विशेषात्मज्ञानस्य कर्त्रादिकारकोपमर्दकत्वेन विरुद्धत्वादु[9]पमर्दं चेतिसूत्रेणाविरुद्धत्वं प्रत्युक्तमित्यर्थः। तस्माद्वक्ष्यमाणविद्याया अकर्मिनिष्ठत्वं कर्मासंबन्धित्वं केवलात्मविषयत्वं च सिद्धमिति पूर्वोक्तकर्मभिर्विद्यया च शुद्धसत्त्वस्यात एव केवलात्मस्वरूपावस्थानलक्षणमोक्षसिद्ध्यर्थं केवलात्मविद्याऽऽरभ्यत इत्युपसंहरति —अत इति।

एषणा से मुक्त पुरुष ब्रह्मविद्या द्वारा अमरत्व प्राप्त कर लेता है। इसी अर्थ को बतलाते हुए "अविद्या से मृत्यु को पार कर विद्या से अमरत्व को प्राप्त कर लेता है" ऐसी श्रुति कह रही है। और जो आपने कहा था कि "कर्म करते हुये ही सौ वर्षों तक जीवित रहने की इच्छा करे" इस मन्त्र से पुरुष की सारी आयु कर्म से ही व्याप्त है (अतः संन्यास का अवसर ही नहीं) उक्त श्रुति अविद्वान् से सम्बन्ध रखने वाली है। ऐसा कहकर हमने खण्डन कर दिया है क्योंकि उक्तश्रुति का कोई दूसरा अर्थ सम्भव नहीं और जो आपने कहा था कि आगे बतलाया जाने वाला आत्मज्ञान भी पूर्वोक्त ज्ञान के सदृश होने के कारण कर्म से विरुद्ध नहीं है, हमने इसका भी खण्डन कर दिया है क्योंकि पूर्वोक्त श्रुति में सविशेष आत्मा को बतलाया गया है और अग्रिम श्रुति में निर्विशेष आत्मा का प्रतिपादन किया जायगा। ऐसा ही आगे के व्याख्यान में हम इसका दिग्दर्शन भी कराएँगे। अतः अब यहाँ से केवल निष्क्रिय ब्रह्म और आत्मा की एकता बताने के लिये आगे का ग्रन्थ प्रारम्भ किया जाता है।

---

१. समासान्तस्यानित्यत्वादेवाह — पुरुषायुरिति। २. इतीत्यनन्तरं तदित्यध्याहार्यम्। ३. तुल्यत्वादिति — आत्मविषयकत्वेनैव तुल्यत्वमिहाभिप्रेतम्। ४. विद्याव्यवधानमित्यादि–यथोक्ताऽविद्याया विद्याद्वारकममृतत्वप्राप्तिसाधनत्वं विद्ययाऽमृतमश्नुत इति श्रुतार्थापत्त्या कल्प्यत इत्यर्थः। ५. न्यायेनेति - तत्सादृश्येनेति यावत्। ६. "नाविशेषात्" (ब्र. सू. ३–४–१३)। "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेदि" त्येवमादिषु नियमश्रवणेषु न विदुष इति विशेषोऽस्ति अविशेषेण नियमविधानादिति भाष्यम्। ७. असंभवात्कर्मण इति शेषः। ८. उदाहृतश्रुतिस्मृतयः संन्यासविधायिन्य इत्यर्थः। ९. उपमर्दं च। (ब्र. सू. ३–४–१६) अत्र भाष्यम् अपि च कर्माधिकार हेतोः क्रियाकारकफललक्षणस्य समस्तस्य प्रपञ्चस्याविद्याकृतस्य विद्यासामर्थ्यात्स्वरूपोपमर्दमामनन्ति। "यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्तत्केन कं जिघ्रेत्" इत्यादिना। इत्यादि।

हरिः ॐ

वाङ्मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठित-
माविरावीर्म एधि वेदस्य म आणी स्थः श्रुतं मे मा
प्रहासीरनेनाधीतेनाहोरात्रान्त्संदधाम्यृतं वदिष्यामि
सत्यं वदिष्यामि तन्मामवतु तद्वक्तारमवत्ववतु
मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम्।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।।

ॐ आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्।

मेरी वाणी में मन प्रतिष्ठित हो और मन में वाणी प्रतिष्ठित हो (अर्थात् मन से जैसा निश्चय किया हो, वाणी वैसे ही बोले और जैसे वाणी बोले मनसे वैसे ही चिन्तन हो, दोनों परस्पर अनुकूल रहें)। हे परमात्मन्! तुम मेरे सामने प्रकट हो जाओ, हे वाक् और मन! मेरे प्रति वेद को लावो, मेरा श्रवण किया हुआ मुझे न त्यागे, अधीत शास्त्रों के द्वारा मैं दिन रात को एक करदूँ — अर्थात् दिन रात अध्ययन चलता रहे। मैं वाचिक सत्य का भाषण करूँ और मानसिक सत्य को ही बोलूँ। यह ब्रह्म मेरी रक्षा करे, वक्ता की रक्षा करे, वह मेरी रक्षा करे और वक्ता की रक्षा करे, वक्ता की रक्षा करे। त्रिविध ताप की शान्ति हो।

संसार की सृष्टि से पूर्व यह नाम-रूपात्मक जगत् एकमात्र आत्मा ही था। उससे भिन्न कोई

आत्मेति। आत्माऽऽप्नोतेरत्तेरततेर्वा परः सर्वज्ञः सर्वशक्तिरशनायादिसर्व-

---

नन्वात्मनः [1]सविशेषत्वप्रतीतेस्तद्विरोधात्कथं [2]कैवल्यमित्याशङ्क्य विशेषस्य सर्वस्याऽऽत्मनि मायया कल्पितत्वान्न वास्तवनिर्विशेषत्वविरोध [3]इति [4]तदर्थं माययाऽऽत्मनः सकाशात्सृष्टिं वक्तुं सृष्टेः पूर्वमात्मनो निर्विशेषरूपं दर्शयितुमात्मा वा इत्यादि वाक्यम्। तत्राऽऽत्मशब्दार्थमाह — आत्मेति। आत्मेतिपदेन सर्वज्ञादिरूप आत्मोच्यत इत्यन्वयः। अद्वय इत्यनन्तरमुच्यत इति शेषः। नन्वात्मशब्देन कथमुक्तलक्षण आत्मोच्यत इत्याशङ्क्याऽऽत्मशब्दस्य स्मृत्युक्तव्युत्पत्तिबलाद्रूढ्या चेत्याह — आप्नोतेरिति। वाशब्दश्चार्थ आदानं च समुच्चिनोति। तथा च स्मृतिः—

"यच्चाऽऽप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह। यच्चास्य संततो भावस्तस्मादात्मेति कीर्त्यते" इति।।

आत्मा ने ईक्षणपूर्वक लोकों की सृष्टि की

व्याप्ति अर्थ वाले आप् धातु, भक्षण अर्थ वाले अद् धातु अथवा सतत गमन अर्थ वाले अत धातु से आत्मा शब्द बनता है। नाम, रूप और कर्म के भेद से भिन्न-भिन्न प्रतीत होने वाला जो यह जगत् कहा गया है, वह संसार की सृष्टि से पूर्व सर्वश्रेष्ठ सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् क्षुधा-पिपासादि सभी सांसारिक

---

१. सविशेषत्वप्रतीतेः कर्ताहमित्येवमादिप्रत्यक्षरूपाया इत्यर्थः। २. कैवल्यं निर्विशेषत्वम्। ३. इति — इत्याशयेन। ४. तदर्थं विशेषस्य कल्पितत्वसिद्ध्यर्थमिति यावत्।

नान्यत्किंचन मिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति।।१।।

क्रियाशील वस्तु नहीं थी, उसने चिन्तन किया कि मैं लोकों की रचना करूँ।।१।।

संसारधर्मवर्जितो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावोऽजोऽजरोऽमरोऽमृतोऽद्वयो वा इदं यदुक्तं नामरूपकर्मभेदभिन्नं जगदात्मैवैकोऽग्रे जगतः सृष्टेः प्रागासीत्। किं नेदानीं स एवैकः। न। कथं तर्ह्यासीदित्युच्यते? यद्यपीदानीं स एवैकस्तथाऽप्यस्ति विशेषः। प्रागुत्पत्तेरव्याकृतनामरूपभेदमात्म (भेदात्म) भूतमात्मैकशब्दप्रत्ययगोचरं जगदिदानीं व्याकृतनामरूप-

---

अत्राऽऽप्तिज्ञानं व्याप्तिश्चोच्यते सत्तास्फुरणाभ्यां सर्वं व्याप्नोतीति सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तित्वं चोच्यते सत्ताप्रदानेनापादानत्वसूचनात्सर्वशक्तित्वमत्तीत्यनेन संहर्तृत्वमततीत्यनेन त्रिविधपरिच्छेद-राहित्यमुच्यत [1]इति अशनायादिवर्जितत्वादि। [2]विषयादानेन रूढ्या च प्रत्यगभेदश्चोच्यत इत्युक्तरूप आत्मपदेनोच्यत इत्यर्थः। अभिव्यक्तनामरूपव्यावर्तनेनाऽऽत्ममात्रावधारणार्थो वैशब्द इत्याह—वा इति। यदुक्तमिति। पूर्वत्र प्राणशब्दितप्रजापतिरूपत्वेन यदुक्तमित्यर्थः। यदुतेति पाठः साधुः। तत्रोतेतिपदेन प्रत्यक्षादिप्रसिद्धमुच्यते। नन्वग्र इति विशेषणादासीदिति भूतत्वोक्तेश्च पूर्वमेवाऽऽत्ममात्रमिदानीं त्वात्ममात्रं न भवति किंतु ततः पृथक्सदिति प्रतीयत इति नाद्वितीय आत्मेति शङ्कते—किं नेदानीमिति। जडस्य मायिकस्य कदाचिदपि स्वतः सत्त्वायोगादात्मनोऽद्वितीयत्वस्य न विरोध इत्याह—नेति। तर्ह्यात्ममात्रत्वस्येदानीमपि सत्त्वे भूतत्वोक्तेः का गतिरिति पृच्छति—कथं तर्ह्यासीदिति। इदमुपलक्षणमग्र इत्यपि कथमिति द्रष्टव्यम्। जगतः कालत्रयेऽप्यात्मव्यतिरेकेणाभावो यद्यपि तथाऽपि तथा बोधने [3]बोध्यस्य प्रत्यक्षादिविरोधशङ्कयोक्तमात्मतत्त्वं बुद्धौ नाऽऽरोहेत्। अतः प्रागुत्पत्तेरासीदित्युच्यते बोध्यस्य चित्तमनुसृत्य तदपि जगतो नामरूपाभिव्यक्त्यभावमपेक्ष्यैव न त्विदानीमात्ममात्रत्वाभावा-भिप्रायेणेत्युत्तरमाह—यद्यपीत्यादिना। अव्याकृतो नामरूपभेदो यस्मिन्नात्मनि तथाविधात्मभूत-मित्यर्थः। आत्मैकशब्दप्रत्ययगोचरमिति। यद्यपि प्रागुत्पत्तेर्वाग्बुद्ध्योरभावेन [4]शब्दप्रत्ययौ तावपि न स्तस्तथाऽपीदानीं तदानींतनात्मतत्त्वं सुप्तादुत्थितः सुप्तिकालीनात्मतत्त्वमिव

धर्मों से रहित, नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव, जन्म-जरा-मृत्यु से रहित, अमृत, अभय और अद्वयरूप आत्मा ही था। प्रश्न :- क्या इस समय भी एक वही आत्मा नहीं है? उत्तर :- ऐसी बात नहीं। प्रश्न :- तो फिर 'आसीत्' क्रिया का प्रयोग क्यों किया गया? उत्तर - यद्यपि इस समय भी अकेला वही है तथापि कुछ भेद है। उत्पत्ति से पूर्व यह जगत् नाम रूपादि भेद के व्यक्त न होने के कारण आत्मभूत एवं एक आत्मा शब्द की प्रतीति का ही विषय था किन्तु इस समय नाम-रूपादि भेद के व्यक्त

---

१. इत्यशनायादिवर्जितत्वादीति। एवं च भाष्योक्ताशनायादिवर्जितत्वादिविशेषणजातं सिध्यतीत्यर्थः।
२. विषयेत्यादि — विषयादानं रूपादि द्रष्टृत्वादि तस्य प्रतीच्येव प्रसिद्धत्वात्। आत्मशब्दरूढेश्च तद्विषयत्वादिति भावः। ३. बोध्यस्य शिष्यादेः। ४. शब्दप्रत्ययौ तावपीति — अत्र शब्दप्रत्ययावपीत्येव लिखितपुस्तकस्थः पाठः। यथाश्रुते तु तावपि यथोक्तावपि शब्दप्रत्ययौ आत्मैकशब्दप्रत्ययावित्यर्थः।

भेदत्वादनेकशब्दप्रत्ययगोचरमात्मैकशब्दप्रत्ययगोचरं चेति विशेषः।

यथा सलिलात्पृथक्फेननामरूपव्याकरणात्प्राक्सलिलैकशब्दप्रत्ययगोचरमेव [1]फेनं यदा सलिलात्पृथङ्नामरूपभेदेन व्याकृतं भवति तदा सलिलं फेनं चेत्यनेकशब्दप्रत्ययभाक्सलिलमेवेति चैकशब्दप्रत्ययभाक्च फेनं भवति तद्वत्।

नान्यत्किंचन न किंचिदपि मिषन्निमिषद्व्यापारवदितरद्वा। यथा सांख्यानामनात्म-

---

[2]प्रमाणान्तरेण ज्ञात्वा तदानीमात्मैक एवाऽऽसीदिति वदति प्रत्येति चेति। [3]तथोक्तेश्वरस्य वाऽऽत्मैकशब्दप्रत्ययौ स्त इति द्रष्टव्यम्। अनेकशब्देति। अविवेकिनां घटादिशब्दप्रत्ययगोचरं घटः सन्नित्यात्मशब्दपर्यायसच्छब्दगोचरं चेत्यर्थः। गोचरशब्दस्य भावप्रधानत्वमङ्गीकृत्य गोचरत्वं यस्येति बहुव्रीहिणा नपुंसकत्वं द्रष्टव्यम्। आत्मैकशब्देति। विवेकिनामित्यर्थः।

उक्तमर्थं दृष्टान्तेन विशदयति — यथेति। अत्राऽऽत्मशब्दव्युत्पत्तिबलात्[4]सर्वज्ञादिशब्दोपलक्षितः सत्यज्ञानानन्तरूपोऽखण्डैकरस आत्मोपक्षिप्तः। तस्यैवार्थस्य दृढीकरणार्थमेकादिपदानि। तत्रैक इत्यात्मान्तराभाव उच्यते। एवेत्यनेन वृक्षादावेकत्वेऽपि शाखादिभिर्नानात्मत्ववदेकस्याप्यात्मनो नानात्मत्वाभाव उच्यत इति।

सजातीयभेदस्वगतभेदनिराकरणार्थत्वेन पदद्वयमित्यभिप्रेत्य विजातीयभेदनिराकरणार्थत्वेन नान्यर्त्किचनेति पदं व्याचष्टे — नान्यदिति। ननु जडप्रपञ्चस्य कारणीभूता जडा माया वर्तत इति कथं विजातीयभेदनिषेध इत्यत आह — मिषदिति। मायायाः सत्त्वेऽपि तदानीं व्यापाराभावाद्व्यापारवतोऽन्यस्य निषेधः संभवतीत्यर्थः। ननु निर्व्यापाराया अपि तस्या अन्यस्याः सत्त्व आत्मशब्दोक्तं तस्याखण्डैकरसत्वं न सिध्येदित्यत आह — इतरद्वेति। निर्व्यापारं वेत्यर्थः। ननु माया तथाविधाऽस्तीति पुनः [5]पूर्वोक्तदोषः स्यादित्याशङ्क्य मिषदित्यनेन स्वतन्त्रं स्वतःसत्ताकमुच्यते। तथाविधस्य च निषेध इति व्यतिरेकदृष्टान्तेनाऽऽह — यथेति। अनात्मपक्षपातीति। आत्मशक्तितयाऽऽत्मन्येवान्तर्भूतमात्मपक्षपातीत्युच्यते तद्भिन्नमित्यर्थः। शक्तित्वेऽपि प्राभाकराणामिव तस्याः स्वतः सत्त्वं स्यान्ने-

---

हो जाने से वह अनेक शब्दों एवं प्रतीतियों का विषय हो रहा है, साथ ही एक आत्मशब्द और प्रतीति का भी विषय है।

जैसे जल से पृथक् फेन नाम-रूप की अभिव्यक्ति होने से पहले फेन एकमात्र जल शब्द और प्रतीति का ही विषय रहता है किन्तु जब वह फेन जल से अलग नाम और रूप के भेद से भिन्न व्यक्त हो जाता है तब वह फेन जल और फेन ऐसे अनेक शब्दों और प्रतीतियों का विषय और केवल जल इस एक शब्द एवं प्रतीति का विषय भी होता है। वैसे ही दार्ष्टान्त पक्ष में समझना चाहिए।

उस अद्वय आत्मा के अतिरिक्त व्यापारयुक्त या व्यापार रहित कोई वस्तु नहीं थी जैसा कि

---

१. फेनमिति — यद्यपि डिण्डीरोब्धिकफः फेन इत्यमरेण पुंस्त्वमेव फेनशब्दस्य शिष्टं तथाप्यस्मादेव शिष्टप्रयोगादर्धर्चादित्वमस्य कल्प्यम्। २. प्रमाणान्तरेण — अर्थापत्त्यादिना। ३. तथोक्तेश्वरस्येति — आत्मशब्दव्युत्पत्त्या सर्वज्ञत्वादिनोक्तस्येश्वरस्येत्यर्थः। ४. सर्वज्ञादिशब्दैर्भाष्ये दर्शित इति यावत्। ५. पूर्वोक्तदोषोऽखण्डैकरसत्वासिद्ध्याख्यः।

पक्षपाति स्वतन्त्रं प्रधानम्। यथा च कारणादानामणवो न तद्वदिहान्यदात्मनः किंचिदपि

त्याह — स्वतन्त्रमिति। यथा सांख्यानां प्रधानमशक्तिभूतं स्वतःसत्ताकमस्ति, काणादानां च तथाविधा अणवः सन्ति तथाविधमात्मव्यतिरिक्तं मिषदित्यनेनानूद्य निषिध्यते। माया तु न तथाभूतेति नोक्तदोष इत्यर्थः। [1]दीपिकायां तु धातूनामनेकार्थत्वेन मिषदितिधातोरासीदित्यर्थमुक्त्वा नान्यत्किंचनाऽऽसीदिति वाक्यार्थ उक्तः। तदयं वाक्यार्थः– इदं जगदग्रे सजातीयविजातीयस्वगतभेदरहितात्मैवाऽऽसीदिति। अनेनाऽऽत्मनोऽद्वितीयत्वं जगतस्तथाविधात्ममात्रतया मृषात्वं च सूचितम्। अनेनाग्रे जगत आत्ममात्रत्वोक्तेर्नकिंचित्प्रयोजनमात्मैक एवाऽऽसीन्नान्यत्किंचनेत्येतावतैवाखण्डत्वसिद्धेरित्याशङ्का निरस्ता, जगन्मृषात्वसूचनस्यैव प्रयोजनत्वात्। न चैवमर्थभेदे वाक्यभेदः स्यादिति वाच्यम्। अखण्डत्वसंभावनार्थमेव जगदनिर्वचनीयत्वस्यै (स्ये) दं जगदखण्डात्मैवेति [2]विशिष्टवेषेणोक्तत्वात्। विशेषणानां [3]चार्थात्तिसद्धेः सोमेन यजेतेत्यत्रेवेति। अत्रार्थद्वयस्यापि सूचितत्वादेवान्तेऽपि तस्या त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्ना इति जाग्रदादेः स्वप्नत्वेन मृषात्वमुक्त्वा स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततममपश्यदित्यात्मशब्दोक्तं तततमत्वं त्रिविधपरिच्छेदराहित्यलक्षणमखण्डत्वं वक्ष्यति। न चेदमात्मैवाऽऽसीदिति सामानाधिकरण्येनाऽऽत्मनो जगद्वैशिष्ट्यमेव प्रतह्मीयते न तु (जगतो) मृषात्वमिति वाच्यम्। आत्मैक एवेतिपदैरुक्तेऽखण्डैकरसे तद्विपरीतजगत्प्रतीतेरतस्मिंस्तद्बुद्धिरूपत्वेन मृषात्वसिद्धेर्जगद्वैशिष्ट्यस्य घटः सन्नित्यादिरूपेण प्रत्यक्षसिद्धत्वेन प्रयोजनाभावेन च तत्प्रतिपादनस्यानुपपत्तेश्च मृषात्वमेव तदर्थः। मिषदित्यनेन स्वातन्त्र्यनिषेधेन स्वतः सत्तानिषेधादपि मृषात्वसिद्धेश्च। स्वतः सत्तावत्त्वे स्वव्यापारे स्वातन्त्र्यमेव स्यात्। न चानेन प्रकारेणेदानीमपि मृषात्वस्याऽऽत्माखण्डत्वस्य च वक्तुं शक्यत्वादग्र इति विशेषणं व्यर्थमिति वाच्यम्। इदानीमात्मभिन्नतया पृथक्सत्त्वेन च प्रतीयमानत्वेन तस्य सहसाऽऽत्ममात्रत्वे बोधिते विरोधिप्रतीत्या तस्य बुद्ध्यनारोहः स्यादिति गुडजिह्विकान्यायेनाऽऽदौ पृथङ्नामरूपानभिव्यक्तिदशायामात्ममात्रत्वं बोध्यते। तस्मिन्बोधित पश्चा[4]त्तन्न्यायेनेदानीमपि स्वयमेवाऽऽत्ममात्रत्वं ज्ञास्यतीत्यभिप्रायेणाग्र इति विशेषणोपपत्तेः। यद्वा वाजसनेयके — "तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्" इति सृष्टेः प्राक्कार्यस्यानभिव्यक्तनामरूपावस्थबीजभूताव्याकृतात्मतोच्यते, इह त्वात्ममात्रता, तत्र श्रुत्योर्विरोधपरिहारायोपसंहारे कर्तव्य इह्यव्याकृतपदमुपसंह्रियते। तत्र चाऽऽत्मपदमितीदमग्रेऽव्याकृतमासीत्तच्च सदाऽऽत्मैवाऽऽसीदिति वाक्यं सिध्यति। तत्राव्याकृतशब्देन "तम असीत्तमसा गूढमग्रे" "मायां तु प्रकृतिं विद्यात्" इत्यादिषु जगद्बीजावस्थायां तमआदिशब्दप्रयोगात्तमोरूपा मायोच्यते, तेन कार्यस्याग्रेऽनभिव्यक्तनामरूपात्मकमायात्मकत्वं सिध्यति। तस्याश्चाऽत्मतादात्म्योक्त्या सांख्यमतवत्स्वतन्त्रत्वनिरासेन तत्र कल्पितत्वं सिध्यति। तयोः कार्यकारणभावाद्यभावेन [5]प्रकारान्तरेण तादात्म्यानिर्वाहात्ततश्चाऽऽत्मनोऽऽखण्डत्वं तद्भिन्नस्य मृषात्वं चाऽऽत्मनः परिणममानाविद्याधिष्ठानत्वेन विवर्तोपादानत्वं तस्याश्च परिणामित्वं च सूचितं भविष्यति। कार्यस्य च मृषात्वार्थमेवाव्याकृतात्मत्वमुच्यते।

सांख्यवादियों के मत में आत्मा से भिन्न स्वतन्त्र प्रधान माना गया है तथा कणादमतानुसार परमाणु

---

१. दीपिकायामिति — मङ्गलाभावाद्व्याख्यानशैलीवैचित्र्याच्च पुरस्तादेवावधृतमपीदानीमनयोक्त्यैतत्स्पष्टी भवति यदिदं नानन्दगिरिपादाचार्याणां व्याख्यानमिति। २. विशिष्टवेषेणेति — विशिष्टरूपेणेत्यर्थः। विशिष्टोक्तिद्वारेति यावत्। ३. अर्थादिति — विशिष्टान्यथानुपपत्त्येत्यर्थः। सोमो नाम द्रव्यं भवति तेन यजेतेत्येवं विशेषणबोधने वाक्यस्य पृथग्व्यापारमन्तरेणेति यावत्। ४. तन्न्यायेन — सद्दृष्टातेनेति यावत्। ५. प्रकारान्तरेण — कल्पितत्वातिरिक्तप्रकारेणेत्यर्थः।

वस्तु विद्यते। किं तर्ह्यात्मैवैक आसीदित्यभिप्रायः।

तस्याव्याकृतस्याऽऽत्मतादात्म्येन मायात्वेन च मृषात्वादिदानीं तु नानभिव्यक्तनामरूपबीजात्मत्वमित्यग्र इति विशेषणमप्यर्थवत्। तदभिप्रेत्यैव भाष्ये प्रागुत्पत्तेरनभिव्यक्तनामारूपभेदात्मभूतमात्मैकशब्द-प्रत्ययगोचरं जगदिदानीं तु व्याकृतनामरूपभेदवत्त्वादनेकशब्दप्रत्ययगोचरमात्मैकशब्दप्रत्ययगोचरं चेति विशेष इतीदानींतनाभिव्यक्तनामरूपबीजात्मत्वमेवाग्रशब्दस्य व्यावर्त्यमुक्तम्। न च साक्षादि-दानीमेव मायात्मत्वेन मृषात्वमुच्यतामिति वाच्यम्। इदानीं प्रत्यक्षादिविरोधेन तथा बोधयितुमशक्य-त्वादित्युक्तत्वान्नामरूपासभिव्यक्तेःसृष्टेः पूर्वमभावेनेदानीमेव विद्यमानत्वेन कादाचित्कत्वादपि रज्जुसर्पा-दिवन्मृषात्वमिति वक्तुमपि प्रागव्याकृतत्वोक्तिरर्थवतीति न किंचिद[1]वद्यम्। अथवा जगदधिष्ठानं किंचित्सद्रूपं संभावयितुमिदमग्र आसीदित्युच्यते। असंभाविते तस्मिन्नखण्डत्वोक्तेर्निर्विषयत्वप्रसङ्गात्। अनेनासतः शशविषाणादेरिव सद्रूपेणोत्पत्त्यसंभवात्कार्यस्य प्रागवस्था सदात्मिका काचित्संभाविता। तस्याश्चाचेतनत्वे कार्याकारेण स्वतोऽप्रवृत्तेरतिरिक्तचेतनाधिष्ठानाङ्गीकारे च गौरवात्। उपादानाधिष्ठानत्वयोरेकस्मिन्नेवा[2]ऽऽत्मघटसंयोगादाविव संभवाच्च चेतनत्वमात्मैवेत्यनेन संभाव्यते। एवं संभाविते ह्यधिष्ठानाभिन्न उपादानकारण आत्मन्यखण्डैकरसत्वं तस्य वक्तुमेक एव नान्यत्किंच-नेति पदानि। अस्मिन्पक्षे चेदमग्र आत्मैवाऽऽसीदित्यंशेन संभावितं कार्यस्य प्राग्रूप[3]मनूद्य यदात्मक-मिदमासीत्स एक एव नान्यत्किंचनेत्यखण्डैकरसत्वं विधीयत इति न कस्यचिदप्यानर्थक्यम्। अत एव च्छान्दोग्ये – "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" (छा. ६-२-१) इत्यस्य सद्रूपकारणसंभावनार्थत्वादेव तत्सिद्ध्यर्थं तद्धैक आहुरित्यादिनाऽसत्कारणवादो निरस्तः। अन्यथाऽसिद्धस्य सतोऽद्वितीयत्वमात्र-विवक्षायां तस्याप्रस्तुतत्वप्रसङ्गात्। अस्मिन्नपि व्याख्याने कारणस्याद्वितीयत्वादेव च तदन्यस्य मृषात्वमपि सिध्यति। कार्यस्य मृषात्वे तन्निरूपितं कारणत्वमपि तथेति तथाविधात्मज्ञानान्मुक्तिरपि वक्ष्यमाणा सिध्यतीति न किंचिदवद्यम्। दीपिकायां त्विदमात्मैवाऽऽसीदिति सामानाधिकरण्यं बाधायां यश्चोरः स स्थाणुरितिवदिदानीं जगद्विशिष्टात्मप्रतिभासेन तत्र बाधानुपपत्त्या स्थितिकालं परित्यज्याग्रशब्देन सृष्टेः प्राचीन काल उपादीयते। सृष्टप्रपञ्चबाधया सिद्धस्याखण्डैकरसत्वस्य स्पष्टीकरणार्थ-मेकादिशब्दा इति न कस्याप्यानर्थक्यमित्युक्तम्। [4]तत्राग्रशब्दस्य न प्रयोजनमारोप्य प्रतीतिदशायामेव यश्चोरः स स्थाणुरित्यादौ बाधदर्शनेनेहापि जगत्प्रतीतिदशायामेव तद्बाधनस्य न्याय्यत्वात्सृष्टेः प्रागप्रतीतस्य बाधानुपपत्तेश्च। किंच कालत्रयनिषेधो हि बाधः, प्राक्काल एवेति निषेधे बाध एव न स्यात्। न हि पाकरक्ते घटे पूर्वं न रक्तो घट इति प्रत्ययं बाधं मन्यन्ते। अत एव भाष्ये प्रागुत्पत्तेरव्याकृतनामरूप-भेदात्मभूतं जगदासीदिति जगतः कारणात्मना सत्तैवोक्ता न तु बाध इति। न च सृष्टेः प्राक्कालाभावेनाग्र इति कथं कालसंबन्ध[5]योग इति वाच्यम्। प्राक्काले घटशरावादिकं मृदेवाऽऽ-सीदित्यादिवाक्येषु कालसंबन्धेनैव बोधनस्य [6]व्युत्पन्नत्वेनेहापि तथैव बोधयतिुं कालसंबन्धारोपोपपत्तेः यथा देवदत्तस्य शिर इत्यादाववयवावयविभेदेन बोधनस्य दृष्टत्वेन राहोः शिर इत्यादावपि

माने गये हैं। ऐसा वेदान्त सिद्धान्त में आत्मा से भिन्न कोई वस्तु नहीं मानी जाती है तो फिर क्या था? एक मात्र आत्मा ही था, यही इसका अभिप्राय है।

---

१. अवद्यं गर्ह्यं दूषणमिति यावत्। २. आत्मघटसंयोगादाविवेति – यथाऽऽत्मघटसंयोगं प्रत्यात्मनः समवायित्वं कर्तृत्वं च तद्वदिति भावः। अधिष्ठानत्वमत्र कर्तृत्वमेवेति बोध्यम्। ३. अनूद्य तस्येति शेषः। ४. दीपिकां दूषयति – तत्रेत्यादिना। ५. योगो युक्तत्वमुपपत्तिरिति यावत्। ६. व्युत्पन्नत्वेन नियतत्वेनेत्यर्थः।

स सर्वज्ञस्वाभाव्यादात्मैकः एव सन्नीक्षतलोकान्नु सृजा इति। ननु प्रागुत्पत्तेर-कार्यकरणत्वात्कथमीक्षितवान्। नायं दोषः। सर्वज्ञस्वाभाव्यात्। तथा च मन्त्रवर्णः- "अपाणिपादो जवनो ग्रहीता" (श्वे. ३-१९)

तत्कल्पनम्। यथा वा पर्वकालेऽपि काल आसीदित्यादौ कालान्तरसंबन्धारोपणं तद्वत्। दीपिकायां तु परीत्या परो बोधनीय इति न्यायेन परमते कालस्य नित्यत्वेन प्रागपि सत्त्वात्तद्रीत्या कालसंबन्ध उक्त इत्युक्तम्। न चाऽऽत्मा वा आसीदिति [1]सत्तावैशिष्ट्यमेव प्रतीयते कर्तुः क्रियाश्रयत्वादिति वाच्यम्। सविता प्रकाशत इत्यादौ कर्तृवाचिप्रत्ययस्य साधुत्वमात्रार्थत्वेन सवितुः प्रकाशरूपत्वप्रत्य-यवदात्मन एव सद्रूपत्वप्रतीतेः। [2]अतिरिक्तसत्ताजात्यभावाच्च। अन्यथा सत्ताऽऽसीदित्यादा[3]वगतेरिति सर्वं सुस्थम्।

एवं सूत्रितमात्मनोऽखण्डैकरसत्वं साधयितुमुपक्षिप्तं प्रपञ्चस्य मृषात्वं [4]तदध्यारोपापवादाभ्यां दृढीकर्तुमध्यायशेषः। तत्राप्यध्यारोपार्थं स जातो भूतानीत्यतः [5]प्राक्तनस्तदादिरपवादार्थः। तत्रापि वाचारम्भणन्यायेनाऽऽत्मातिरिक्तस्य विकारत्वेन मृषात्वं वक्तुं सृष्टिवाक्यम्। तत्र स्रष्टुरात्मनः [6]संभावितं चेतनत्वं दृढीकर्तुमीक्षणमाह — स सर्वज्ञेति। नन्वेकस्याखण्डस्य कथमीक्षणं साधनाभावादित्या-शङ्क्य न तस्य साधनापेक्षेत्यभिप्रेत्यैकः सन्नपि सर्वज्ञस्वाभाव्यादीक्षतेत्युक्तम्। अत्राऽऽडागमाभाव-श्छान्दसः। इममेवाभिप्रायं शङ्कापरिहाराभ्यां स्पष्टी करोति — नन्विति। तत्र करणानीन्द्रियाणि कार्यं शरीरमिति विवेकः। तद्रहितस्यापि सार्वज्ञ्ये श्रुतिमाह — तथा चेति। अपादो जवनोऽऽपाणिर्ग्र-हीतेत्यन्वयः। पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः। स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तमिति मन्त्रशेषः। न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। [7]पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी [8]ज्ञानबलक्रियाचेत्यादिरादिशब्दार्थः। ननु स्वाभाविकनित्यचैतन्येन कथं कादाचित्केक्षणमिति। अत्र केचित्सर्गादौ प्राणिकर्मभिरेका सृज्याकाराऽ-विद्यावृत्तिरुत्पद्यते। तस्यामात्मचैतन्यं प्रतिबिम्बते तदेवेक्षणं तच्चाऽऽदिकार्यत्वात्[9]स्वपरनिर्वाहकमिति न तत्रापीक्षणान्तरापेक्षा [10]सर्वैरपि प्रथमकार्येऽनवस्थापरिहारायैवमेवैष्टव्यमित्याहुः। अपरे तु प्राणिकर्मवशात्सृष्टिकालेऽभिव्यक्त्युन्मुखीभूतानभिव्यक्तनामरूपावच्छिन्नं सत्स्वरूपचैतन्यमेवौन्मुख्यस्य

सर्वज्ञ स्वभाव होने के कारण एकाकी होते हुए उस आत्मा ने चिन्तन किया। प्रश्न :- जगत् उत्पत्ति से पूर्व स्थूल और सूक्ष्म शरीर के अभाव में उसने किस प्रकार चिन्तन किया होगा? उत्तर :- यह कोई दोष नहीं है क्योंकि वह आत्मा स्वभाव से सर्वज्ञ है "हाथ पाँव वाला न होता हुआ भी वह

---

१. सत्तावैशिष्ट्यमेव प्रतीयत इति — तथा चाखण्डैकरसत्वं न सिध्यतीति भावः। २. अतिरिक्तसत्ताजात्यभावाच्च नात्मनः सत्तावैशिष्ट्यमित्यन्वयः। ३. अंगतेरिति — सत्ताया अपि सत्तान्तरवैशिष्ट्येऽनवस्थापत्तेः। सत्तान्तरानुपगमे च यथोक्तप्रतीतेरेवानुपपत्तेरित्यर्थः। अनतिरिक्तसत्तायां तु स्वरूपसत्तयैव निर्वाह इति भावः। ४. तस्य प्रपञ्चस्य। ५. अध्यायभागः। ६. संभावितमिति — सांख्यादिभिर्जडस्यापि स्रष्टृत्वोपगमाच्छिङ्कितमिति नोक्तम्। दृढीकारोऽपि तदैवोपपद्यते। ७. पराऽस्येत्यादि अस्येश्वरस्य शक्तिर्माया स्वकार्यापेक्षया परा विचित्रकार्यकारित्वाद्विविधा सा चैतिह्यमात्रसिद्धा न प्रमाणसिद्धेत्याह — श्रूयत इति। ८. ज्ञानरूपेण बलेन या सृष्टिक्रिया सा स्वाभाविक्यनादिमायात्मकत्वादित्यर्थः। ज्ञानस्य चैतन्यस्य बलं मायावृत्तिप्रतिबिम्बितत्वेन स्फुटत्वं तस्य क्रियानामबिम्बत्वेन ब्रह्मणो जनकता (ज्ञातृतापि) स्वाभाविकीति वार्थः। ९. स्वपरनिर्वाहकमिति-स्वविषयकत्वे सति स्वातिरिक्तसृज्यविषयक-मित्यर्थः। १०. सर्वैरित्यादि — अन्यथोत्पत्तेरप्युत्पत्त्यन्तरमपेक्ष्येतेति भावः।

**स इमाल्लँलोकानसृजत। अम्भो मरीचीर्मरमापोऽ-
दोऽम्भः परेण दिवं द्यौः प्रतिष्ठाऽन्तरिक्षं मरीचयः
पृथिवी मरो या अधस्तात्ता आपः।।२।।**

उस आत्मा ने अम्भ (शब्द से कहे जाने वाले लोक) मरीचि, मर और आप इन लोकों की सृष्टि की, जो द्युलोक से परे है और स्वर्ग जिसका आश्रय है, वह अम्भ है। द्युलोक से नीचे भुवर्लोक मरीचि, पृथिवी मरलोक है (क्योंकि उसमें प्राणी मरते हैं) और जो पृथिवी के नीचे वह आप है (क्योंकि वह नीचे के लोक में रहने वाले प्राणियों से प्राप्त किया जाता है)।।२।।

इत्यादिः। केनाभिप्रायेणेत्याह लोकानम्भःप्रभृतीन्प्राणिकर्मफलोपभोगस्थानभूतान्नु सृजै सृजेऽहमिति।।१।।

एवमीक्षित्वाऽऽलोच्य स आत्मेमाल्लँलोकानसृजत सृष्टवान्। यथेह बुद्धिमांस्तक्षादि-रेवंप्रकारान्प्रासादादीन्सृज इतीक्षित्वाऽनन्तरं प्रसादादीन्सृजति, तद्वत्।

ननु सोपादानस्तक्षादिः प्रासादादीन्सृजतीति युक्तं निरुपादानस्त्वात्मा कथं

कादाचित्कत्वात्कादाचित्कमीक्षणमित्याहुः। अन्ये त्वीक्षणवाक्यस्य कारणस्याचैतन्यव्यावृत्तिपरत्वा-दीक्षणो तात्पर्याभावाच्च न तत्र भूयानाग्रहः कर्तव्य इत्याहुः। नुशब्दो वितर्कार्थ इति मनसि निधाया-ऽऽह – न्विति।लोडर्थस्य विध्यादेः स्वात्मन्यसंभवाल्लोटो लडर्थत्वमाह – सृज इति। अहमितीत्यस्येक्षतेति पूर्वेणान्वयः।।१।।

ईक्षणस्य पूर्वकालीनत्वं वदन्सृष्टिहेतुत्वमाह – एवमिति। अत्रेक्षणपूर्वकसृष्ट्युक्तेः प्रयोजनं [1]स्त्रष्टुश्चेतनत्वसिद्धिरेवेत्यभिप्रेत्य तथाविधस्य तक्षादेश्चेतनत्वमुदाहरति – यथेति।

नन्वीक्षितुस्तक्षादेर्दार्वाद्युपादानकारणसहितत्वात्प्रासादादिस्त्रष्टृत्वं युक्तम्। इह त्वात्मा वा इदमेक एवेत्युक्तस्याद्वितीयत्वेनोपादानकारणान्तराभावात्स्त्रष्टृत्वं न युक्तमिति शङ्कते – नन्विति।

वेगवान् सबको पकड़ने वाला है" इत्यादि मन्त्र भी ऐसे ही कह रहे हैं। उसने किस अभिप्राय से ईक्षण किया? इसका उत्तर श्रुति देती है कि "मैं प्राणियों के कर्मफल उपभोग के योग्य स्थान अम्भ आदि लोकों की रचना करूँ" इसी अभिप्राय से ईक्षण किया।।१।।

सृष्टिक्रम

इस प्रकार चिन्तन कर उस आत्मा ने इन लोकों की सृष्टि की। जैसे इस लोक में बुद्धिमान् कलाकारादि "मैं इस प्रकार के महलादि को बनाऊँगा" ऐसा विचार करने के बाद महलादि की रचना करते हैं ठीक वैसे ही (उसने भी की)।

शंका :- उपादान कारण से युक्त शिल्पकार आदि उन महलादि की रचना करते हैं, ऐसा कहना ठीक ही है किन्तु उपादान कारण से रहित आत्मा कैसे लोकों की रचना करता है

---

१. स्रष्टुश्चेतनत्वसिद्धिरिति – सा च सांख्यादिपक्षप्रतिक्षेपार्थेति भावः।

लोकान्सृजतीति। नैष दोषः। [1]सलिलफेनस्थानीये आत्मभूते अव्याकृते आत्मैकशब्दवाच्ये व्याकृतफेनस्थानीयस्य जगत उपादानभूते संभवतः। तस्मादात्मभूतनामरूपोपादानः सन्सर्वज्ञो जगन्निर्मिमीत इत्यविरुद्धम्।

अथवा यथा विज्ञानवान्मायावी निरुपादान आत्मानमेवाऽऽत्मान्तरत्वेनाऽऽकाशेन

न च बहुस्यां प्रजायेय तदाऽऽत्मानथं स्वयमकुरुतेतिश्रुत्याऽऽत्मन एवोपादानत्वान्नोपादानान्तरापेक्षेति वाच्यम्। वियदादेर्व्यावहारिकत्वेन घटादिवत्परिणामत्वात्तस्य परिणाम्युपादानं वक्तव्यम्। न चाऽऽत्मा तथा भवितुमर्हति, तस्य निरवयवत्वेनापरिणामित्वादिति भावः। तत्र वियदादेः [2]परिणामत्वमङ्गीकृत्य तत्रानभिव्यक्तनामरूपावस्थं बीजभूतमव्याकृतं तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तम आसीत्, मायां तु प्रकृतिं विद्यादित्यादिश्रुतिसिद्धं परिणाम्युपादानमस्तीत्याह —नैष इति। आत्मभूते इत्यनेनानभिव्यक्तनामरूपशब्दिताव्याकृतस्याऽऽत्मन्यध्यस्तत्वेन परिणममानाविद्याधिष्ठानत्वेनाऽऽत्मनो विवर्तोपादानत्वं तयोरात्ममात्रत्वेन मृषात्वादात्मनोऽद्वितीयत्वं च न विरुध्यत इति दर्शयति — नामरूपे इति। तदाश्रयमव्याकृतमित्यर्थः।

इदानीं घटादिष्वपि वितर्ततैव, परिणामो नाम विवर्तादन्यो नास्त्येव विवर्त इति परिणाम इति च [3]पर्याय [4]इत्या [5]रम्भणाधिकरणन्यायेन विवर्ततया सिद्धे [6]विकारेऽप्या[7]त्मकृतेः परिणामादिति सूत्रकारेण परिणामशब्दप्रयोगाच्च सिद्धं [8]तत्र च सत एवोपादनत्वम्। माया तु सहायमात्रमित्यभिप्रेत्याऽऽत्मनि[9] चैवं विचित्राश्च हीति सूत्रावष्टम्भेन परिहारान्तरमाह — अथवेति। विज्ञानवानिति। आकाशेन गच्छन्तमिव स्थितमात्मान्तरं स्त्रक्ष्यामीति ज्ञानवानित्यर्थः। इदं च विशेषणमीक्षणस्य स्त्रष्टृत्वस्य च शुक्तिरजतादौ विवर्तेऽदर्शनात्कार्यस्य तत्तुल्यत्वेन तदुभयं न स्यादितिशङ्कानिरासार्थं तन्निरासश्च मायाविनिर्मिते विवर्ते तदुभयदर्शनादिति। निरुपादान इति। स्वव्यतिरिक्तोपादानरहित इत्यर्थः।

समाधान - यह कोई दोष नहीं क्योंकि जलगत अव्यक्त फेन स्थानीय अव्याकृत नाम और रूप जो आत्मस्वरूप और एकमात्र आत्मशब्द वाच्य है, वह व्याकृत फेनस्थानीय जगत् के उपादान हो सकते

---

१. व्याकृताऽव्याकृतदशाभेदेनोभयरूपत्वं नामरूपयोराह — सलिलफेनस्थानीये इति। सलिलस्थानीयत्वमेव तु युक्तं वक्तुमव्याकृते इति विशेषितत्वात् फेनस्यापि सत एवाभिव्यक्त्युपगमाभिप्रायकं वैतदित्यवधेयम्। २. परिणामत्वमिति — परिणामो नामोपादानसमसत्ताकोऽन्यथाभावः तद्विषमसत्ताकस्तु स विवर्त इति विवेकः। ३. पर्याय इति सिद्धमिति व्यवहितेन संबन्धः। ४. तत्रारम्भणाधिकरणन्यायेन विकारस्य विवर्ततया सिद्धत्वमेको हेतुः। ५. आरम्भणेति — "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्य इति। (ब्र. सू. २-१-१४)। ६. हेत्वन्तरमाह — विकारेऽपीत्यादिना। ७. आत्मकृतेरिति — अत्र भाष्यम्। इतश्च प्रकृतिर्ब्रह्म यत्कारणं ब्रह्म प्रक्रियायां तदात्मानं स्वयमकुरुतेत्यात्मनः कर्मत्व कर्तृत्वं च दर्शयति-आत्मानमिति, कर्मत्व स्वयमकुरुतेति कर्तृत्वम्। कथं पुनः पूर्वसिद्धस्य सतः कर्तृत्वेन व्यवस्थितस्य क्रियमाणत्वं शक्यं संपादयितुं परिणामादिति ब्रूमः पूर्वसिद्धोऽपि हि सन्नात्मा विशेषेण विकारात्मना परिणमयामासात्मानमिति। इत्यादि। ८. तत्र च विवर्ते चेत्यर्थः। ९. आत्मनि चैवमिति — अत्र भाष्यम्। अपि च नैवात्र विवदितव्यं कथमेकस्मिन्ब्रह्मणि स्वरूपानुपमर्देनैवानेकाकारा सृष्टिः स्यादिति यत आत्मन्यप्येकस्मिन् स्वपनदृशि स्वरूपानुपमर्देनैवानेकाकारा सृष्टिः पठ्यते — न तत्र रथा न रथयोगा इतादिना लोकेऽपि देवादिषु मायाव्यादिषु च स्वरूपानुपमर्देनैव विचित्रा हस्त्यश्वादि सृष्टयो दृश्यन्ते तथैकस्मिन्नपि ब्रह्मणि स्वरूपानुपमर्देनैवानेकाकारा सृष्टिर्भविष्यतीति। इति।

गच्छन्तमिव निर्मिमीते तथा सर्वज्ञो देवः सर्वशक्तिर्महामाय आत्मानमेवाऽऽत्मान्तरत्वेन जगद्रूपेण निर्मिमीत इति युक्ततरम्। एवं च सति कार्यकारणोभयासद्वाद्यादिपक्षाश्च न प्रसज्जन्ते सुनिराकृताश्च भवन्ति।

कांल्लोकानसृजतेत्याह —

अम्भो मरीचीर्मरं[1]माप इति। आकाशादिक्रमेणाण्डमुत्पाद्याम्भःप्रभृतीँल्लोकान-

सर्वशक्तित्वे हेतुमाह — महामाय इति। आत्मान्तरत्वेनेति। आत्मभिन्नत्वेनेत्यर्थः। युक्ततरमिति। इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते मायया ह्यन्यदिव भवति, बहु स्यां प्रजायेय, वाचारभणं विकारोऽपागादग्ने-रग्नित्वमित्यादिबहुश्रुतिसंमतत्वादित्यर्थः। एवं च सतीति। सत एवाऽऽत्मनः कार्यकारणरूपेणा-वस्थानाङ्गीकारान्निर्हेतुकमेव कार्यमुत्पद्यत इति [2]यदृच्छावादिनाम्, असदेव कार्यमुत्पद्यत इति नैया-यिकानाम। उभयमप्यसदिति शून्यवादिनां पक्षः। आदिशब्देन सदेव कार्यमुत्पद्यत इति सांख्यादीनां परिणामपक्ष उक्तः। अत्र पक्षशब्देन तत्तत्पक्षोक्तदोषा लक्ष्यन्ते। तत्रा[3]सत्कारणपक्षे दध्याद्यर्थिनां दुग्धाद्यन्वेषणं न स्यादिति दोषः। असत्कार्यपक्षे त्वसतः सत्त्वापत्तिः शशविषाणादेरप्युत्पत्ति-प्रसङ्गश्च दोषः। परिणामवादे च तस्य पूर्वमेव कारणे सत्त्वात्कुलालादिकारकव्यापारवैयर्थ्यं पूर्व-मसत्त्वे कारणस्यैवावस्थान्तरापत्तिलक्षण[4]परिणामत्वानुपपत्तिः। उत्पत्त्यनन्तरमसत्त्वे ततो व्यवहा-रासिद्धिरपरोक्षत्वानुपपत्तिश्चेति दोषः। उभयासत्त्वे चोभयपक्षोक्तदोषास्ते विवर्तवादे न प्रसज्जन्त इत्यर्थः। यद्वाऽस्माभिर्विवर्तवादस्याङ्गीकारात्परिणामादिपक्षाङ्गीकारे परपक्षाङ्गीकारलक्षणो दोषो भवेदिति यच्छङ्क्यते तन्न संभवतीत्याह — एवं च सतीति। सुनिराकृताश्चेति। विवर्तवादस्यैव परिग्रहेण पक्षान्तरेषु दोषसूचनादद्वितीयात्मनस्तद्विपरीतप्रपञ्चाकारताभिधायिन्या बहु स्यामिति श्रुत्या विवर्तवादस्यैव परिगृहीतत्वेन पक्षान्तराणां [5]श्रुतिबाह्यत्वाच्च ते निराकृता भवन्तीत्यर्थः।

लोकानां भौतिकत्वादण्डान्तर्वर्तित्वाच्च भूतसृष्टितत्पञ्चीकरणाण्डसृष्ट्यनन्तरं तत्सृष्टिरिति [6]गुणोपसंहारन्यायमाश्रित्याऽऽह — आकाशादीति। स्वयमेव व्याचष्ट इति। तेषां लोकेष्वप्रसिद्धत्वादि-

हैं। अतः वह सर्वज्ञ आत्मा अपने स्वरूपभूत नाम और रूप उपादान स्वरूप होकर जगत् का निर्माण करता है इसमें कोई विरोध नहीं है अथवा जिस प्रकार बुद्धिमान् मायावी उपादान कारण न रहने पर भी स्वयं अपने को ही अन्यरूप से आकाश में चलता हुआ-सा बना लेता है। उसी प्रकार वह सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ महामायावी देव अपने को ही जगत् रूप से बना लेता है, यह अत्यन्त युक्तियुक्त है। ऐसा होने पर कार्य-कारण उभय को असत् कहने वाले के पक्षों की प्राप्ति भी नहीं होती और उनका पूर्णरूप से खण्डन हो जाता है।

१. आप इति — प्रथमा द्वितीयार्था। यद्वा आप्नोतेरिति भाष्यान्नायमप्शब्दः किन्त्वाप्शब्दस्तदा द्वितीयान्तमेवाप इति। २. यदृच्छेति — स्वभाववादिनामित्यर्थः। ३. असत्कारणपक्षे — यथोक्तयदृच्छावादिपक्षे। ४. परिमाणत्वानुपपत्तिरिति-असत उत्पत्तावारम्भवादप्रसङ्गादिति भावः। कारणात्मना सत एवावस्थान्तरापत्तावभिव्यक्तिर्हि परिणाम इति। ५. श्रुतिर्बाह्यत्वादिति — अवैदिकत्वादित्यर्थः। ६. गुणोपसंहारन्यायमिति — तथा च ब्रह्मसूत्रम् "उपसंहारोऽर्थाभेदाद्विधिशेषवत्समाने च" ३-३-५। इति समाने विज्ञाने गुणानामुपसंहारः कार्यः। अर्थाभेदात् अर्थो गुणानां प्रयोजनं विज्ञानोपकारस्तदभेदादित्यर्थः। विधिशेषवत् यथाहि विधिशेषाणामग्निहोत्रादिधर्माणां तदेवैकमग्निहोत्रादिकर्म सर्वत्रेत्यर्थाभेदादुपसंहार एवमिहापीति।

सृजत। तत्राम्भःप्रभृतीन्स्वयमेव व्याचष्टेश्रुतिः। अदस्तदम्भःशब्दवाच्यो लोकः परेण दिवं द्युलोकात्परेण परस्तात्सोऽम्भःशब्दवाच्योऽम्भो भरणात्। द्यौः प्रतिष्ठाऽऽश्रयस्तस्याम्भसो लोकस्य। द्युलोकादधस्तादन्तरिक्षं यत्तन्मरीचयः। एकोऽप्यनेकस्थानभेदत्वाद्बहुवचनभाङ्मरीचय इति। मरीचिभिर्वा रश्मिभिः संबन्धात्। पृथिवी मरो म्रियन्तेऽस्मिन्भूतानीति या अधस्तात्पृथिव्यास्ता आप उच्यन्त [1]आप्नोतेर्लोकाः। यद्यपि पञ्चभूतात्मकत्वं लोकानां तथाऽप्यब्बाहुल्यादब्नामभिरेवाम्भो मरीचीर्मरमाप इत्युच्यन्ते।।२।।

त्यर्थः। द्युलोकात्परस्ताद्ये महरादयो लोका यश्च तस्याम्भसो लोकस्याऽऽश्रयो द्युलोकस्ते सर्वेऽम्भः-शब्देनोच्यन्ते, वृष्ट्यम्भसस्तत्र विद्यमानत्वादित्याह — अद इत्यादिना। अन्तरिक्षं मरीचय इत्यस्यार्थ-माह — द्युलोकादिति। मरीचिशब्देन सूर्यकिरणसंबन्धादन्तरिक्षल्लोकं लक्षयित्वा तस्यैकत्वेऽपि प्रदेश-भेदाद्बहुवचनमित्युक्तम्। इदानीं बहूनां मरीचीनां लक्षकत्वात्तत्कृतं वाहुल्यं गङ्गायां घोष इत्यत्र लक्षकगतस्त्रीत्वमिवेत्याह — मरीचिभिर्वेति। न नु मरीचिशब्देनान्तरिक्षलोकस्वीकारे मरीचिसंबन्धो निमित्तान्तरमुचयत इति भ्रमितव्यम्। एतद्भिन्नस्य निमित्तान्तरस्य पूर्वमनुक्तत्वेन विकल्पार्थकवा-शब्दायोगात्। आप उच्यन्त इति। अधोलोकवासिभिर्जीवैराप्यमानत्वादाप्नोतेर्धातोरर्थयोगात्ते लोका आप इत्युच्यन्त इत्यन्वयः। ननूक्तानां लोकानां पञ्चभूतसंबन्धाविशेषाद्भूतान्तरेण पृथिव्यादिनोपरि-तनलोका लक्ष्यन्तामन्तरिक्षस्य मरीचिव्यतिरिक्तपदार्थान्तरेण मेघादिनोऽपि संबन्धात्तेन स लोकः पृथिव्यास्ततोऽधोलोकानां च मरणाप्तिव्यतिरिक्तगमनादिक्रियान्तरेणापि योगात्क्रियान्तरेण ते लक्ष्य-न्तामिति शङ्कते — यद्यपीति। भूतात्मकत्वमिति। भूतसंबन्धित्वमित्यर्थः। इदमुपलक्षणं मेघादिपदार्था-न्तरसंबन्धोऽपि वर्तत इत्यपि द्रष्टव्यम्। अम्भआदीनामेव तेषु तेषु लोकेषु प्राचुर्यात्तैरेव ते लोका लक्षणीयाः प्राचुर्येण व्यपदेशा भवन्तीति न्यायादिति परिहरति — तथाऽपीति। अब्बाहुल्यादित्युपल-क्षणं मरीच्यादीनामपि बाहुल्यादित्यपि द्रष्टव्यम्। अब्नामभिरित्यत्रापि मरीच्यादिनामभिरित्यपि द्रष्टव्यम्। [2]यथाश्रुतेऽबात्मकत्वेनाम्भआदिशब्दलक्षकत्वानुक्तेर्लोकानां शङ्कानुपपत्तेर्मरीच्यादीनाम-ब्नामत्वाभावादप्शब्दस्याप्याप्तिक्रियार्थत्वोक्तेरब्नामत्वाभावेनाब्नामभिरितिपरिहारानुपपत्तेश्चेति। उपरितनलोकाद्वृष्टिद्वारेणाऽऽगतमम्भ एवास्माभिः साक्षादुपलभ्यते न तु भूतान्तरमित्यस्मद्दृष्ट्या-ऽब्बाहुल्यमुपरितनलोकानामूर्ध्वलोकगामिप्राण्यपेक्षयाऽधोलोकगामिनां प्राणिनां पुराणेषु बाहुल्यो-क्तेर्बहुभिराप्यन्तेऽधोलोका इत्यधोलोकेषु तत्कर्तृकाप्तेरपि बाहुल्यं पृथिव्यामतिशीघ्रं प्राणिनां-मरणात्तस्यापि तत्र बाहुल्यमन्तरिक्षस्य तु मरीचिबाहुल्यं प्रसिद्धमेवेति ज्ञेयम्। अम्भो मरीचीर्मरमाप इत्युच्यन्त इति। एतैर्नामभिरुच्यन्त इइत्यन्वयः।

उस आत्मा ने किन लोकों की रचना की। इसे श्रुति कहती है।

अम्भ मरीचि, मर और आप आदि की उसने आकाशादि क्रम से ब्रह्माण्ड को उत्पन्न कर अम्भ आदि लोकों की सृष्टि की। वहाँ पर अम्भ आदि लोकों की व्याख्या श्रुति स्वयं ही करती है। जो द्युलोक से परे हैं वह मेघों को धारण करने वाला होने से अम्भ शब्द से कहा जाता है, उस

---

१. आप्नोतेरिति — व्याप्तिसंबन्धादिति यावत्। २. यथाश्रुत इति — मरीच्यादिशब्दानामप्यब्नामत्वे तद्वाच्यानां लोकानामबात्मकत्वापत्त्या अम्भ आदिशब्दानां लक्षकत्वोक्त्यसंभवाच्छङ्कैव तावद्यथोक्ता नोपपद्येतेत्यर्थः। परिहारानुपपत्ति दूषणान्तरमाह —मरीच्यादीनामिति। तच्छब्दानामित्यर्थः।

स ईक्षतेमे नु लोका लोकपालान्नु सृजा इति।
सोऽद्भ्य एव पुरुषं समुद्धृत्यामूर्छयत्।।३।।

उसने फिर विचार किया कि ये लोक तो बन गये (किन्तु रक्षक के विना ये नष्ट हो जायेंगे अतः इन्) लोकों की रक्षा के लिए अब मैं लोकपालों की रचना करूँ, ऐसा विचार कर उसने जल (प्रधान पंचभूतों) से ही एक पुरुष निकालकर अवयवयुक्त किया।।३।।

सर्वप्राणिकर्मफलोपादानाधिष्ठानभूतांश्चतुरो लोकान्सृष्ट्वा–सा ईश्वरः पुनरेवेक्षत। इमे न्वम्भःप्रभृतयो मया सृष्टा लोकाः परिपालयितृवर्जिता विनश्येयुः। तस्मादेषां रक्षणार्थं लोकपालाँल्लोकानां पालयितॄन्नु सृजै सृजेऽहमिति।

अत्राऽऽत्मा वा इत्युक्तात्मज्ञानेन संसारी मोचयितव्यत्वेन विवक्षितः। असंसारिणो मोक्षानुपपत्तेः। संसारश्च संसरणाधिकरणलोकांस्[१]तदुपाधिभूतं लिङ्गशरीरं तदभिमानिनो देवांस्[२]तदधिष्ठानं स्थूलशरीरं संसाररूपाशनायादींस्तदभिमानिनं तद्भोक्तारमन्तरेण नोपपद्यत इति तस्य सर्वस्य सृष्टिमयमावसथ इत्यन्तेन ग्रन्थेन क्रमेण वक्ष्यन्संसरणाधिष्ठानलोकसृष्टिमुक्त्वा तत्पालयितृदेवता-सृष्ट्युक्तिव्याजेन समष्टिस्थूलशरीरस्य समष्टिलिङ्गशरीरस्य तदभिमानिनां देवानां च सृष्टिं वक्तुमारभते – स ईक्षतेति। तद्व्याचष्टे – सर्वप्राणीति। फलस्य तदुपादानस्य तत्साधनस्य चाधिष्ठानभूतानित्यर्थः। अव्ययानामनेकार्थत्वान्नुशब्दस्तुशब्दार्थं वैलक्षण्यं लोकानामाहेत्याह – इमे न्विति। अहमितीत्यस्येक्षतेति पूर्वेणान्वयः।

अम्भलोक की प्रतिष्ठा द्युलोक है, जो मनुष्य को प्रत्यक्ष प्रमाण से नहीं दीखता है। इसीलिए परोक्ष अर्थ के वाचक अदः शब्द से श्रुति ने कहा है। द्युलोक से नीचे जो अन्तरिक्ष है वह मरीचिलोक है, वह एक होने पर भी अनेक स्थान भेद के कारण मरीचयः ऐसे बहुवचन से कहा गया है। अथवा सूर्य किरणों से सम्बन्धित होने के कारण उसे मरीचि कहते हैं। पृथिवी मर है क्योंकि इस पृथिवी-लोक में सभी प्राणी मरते हैं और जो पृथिवी से नीचे की ओर (अतलादि लोक हैं) वे आप शब्द से कहे जाते हैं क्योंकि अप शब्द आप धातु से बनता है (निम्नलोकवर्ती प्राणियों से प्राप्त करने योग्य होने के कारण आप लोक प्राप्ति अर्थ वाला है) यद्यपि सभी लोक पाँचभौतिक हैं फिर भी अम्भः, मरीचि, मर और आप ये लोक जल की अधिकता होने के कारण आप शब्द से ही कहे जाते हैं।।२।।

लोकपालों की रचना

सभी प्राणियों के कर्मफलरूप उपादान के अधिष्ठान स्वरूप चारलोकों की रचनाकर उस ईश्वर ने फिर भी विचार किया मेरे द्वारा रचे गए ये अम्भ आदि लोक विना किसी लोकपाल के नष्ट हो जायँगे। अतः इनकी रक्षा के लिए मैं लोकों के रक्षक लोकपालों की रचना करूँ।

ऐसा विचार कर उसने जिनसे अम्भ आदि लोकों की रचना की थी, उन्हीं जल प्रधान

---

१. तदुपाधिभूतमिति – संसारोपाधिभूतमित्यर्थः। आत्मनि संसाराध्यासनिमित्तभूतमिति यावत्। २. तदधिष्ठानं लिङ्गशरीराधिष्ठानमित्यर्थः।

तमभ्यतपत्तस्याभितप्तस्य मुखं निरभिद्यत यथाऽण्डम्।
मुखाद्वाग्वाचोऽग्निर्नासिके निरभिद्येतां नासिकाभ्यां
प्राणः प्राणाद्वायुरक्षिणी निरभिद्येताम[1]क्षीभ्यां
चक्षुश्चक्षुष आदित्यः कर्णौ निरभिद्येतां कर्णाभ्यां
श्रोत्रं श्रोत्राद्दिशस्त्वङ्निरभिद्यत त्वचो लोमानि

उस पुरुषाकार पिण्ड को लक्ष्य में रखकर ईश्वर ने संकल्परूप तप किया। ईश्वर के संकल्परूप तप से तपे हुए पिण्ड से अण्डे के समान मुख प्रकट हुआ, मुख से वाणी और वाणी से (उसका अभिमानी) अग्निदेव उत्पन्न हुआ, नासिका छिद्रों से प्राण प्रकट हुआ और प्राण से उसका अभिमानी वायु उत्पन्न हुआ, नेत्रगोलक प्रकट हुए, नेत्रों से चक्षुरिन्द्रिय और चक्षु से आदित्य उत्पन्न हुआ। श्रोत्रगोलक उत्पन्न हुए, श्रोत्रगोलक से श्रोत्रेन्द्रिय और श्रोत्र से दिशाएँ उत्पन्न हुईं। त्वक्गोलक उत्पन्न हुआ, त्वचा

एवमीक्षित्वा—

सोऽद्भ्य एवाप्प्रधानेभ्य एव पञ्चभूतेभ्यो येभ्योऽम्भःप्रभृतीन्सृष्टवांस्तेभ्य एवेत्यर्थः। पुरुषं [2]पुरुषाकारं शिरःपाण्यादिमन्तं समुद्धृत्याद्भ्यः समुपादाय मृत्पिण्डमिव कुलालः पृथिव्या अमूर्छयन्मूर्छितवान्संपिण्डितवान्स्वावयवसंयोजनेनेत्यर्थः।।३।।

तं पिण्डं पुरुषविधमुद्दिश्याभ्यतपत्। अभितपनमभिध्यानं संकल्पं कृतवानित्यर्थः।

समष्टिलिङ्गशरीरस्य तदभिमानिनां [3]विराडवयवजन्यत्वात्तदर्थं विराट्सृष्टिमाह — एवमीक्षित्वेति। यद्यपि लोकोत्पत्तेः पूर्वमेवा[4]ण्डोत्पत्तिरुक्ताऽण्डमुत्पाद्याम्भःप्रभृतीँल्लोकानसृजतेति भाष्येण तथाऽपि सैवोत्पत्तिरिहानूद्यते लोकपालसृष्ट्यर्थमिति [5]न विरोध इति भावः। अद्भ्य एवेत्येवकारार्थमाह — येभ्य इति। कुलालः पृथिव्याः सकाशान्मृत्पिण्डमिवेत्यन्वयः। स्वावयवेति। भूतानां परस्परावयवसंयोजनमतिश्लिष्टसंयोगस्तेनेत्यर्थः।।३।।

विराडुत्पत्तिमुक्त्वा तदवयवेभ्यो लोकपालोत्पत्तिमाह — तं पिण्डमित्यादिना।

पञ्चभूतों से शिर और हाथ आदि अवयव वाले पुरुष आकार को निकालकर मूर्च्छित किया अर्थात् अवयवों की योजना कर उसको बढ़ाया। जैसे कुम्हार पृथिवी से मृतपिण्ड को निकालता है, ठीक वैसे ही (उन पञ्चभूतों से) हस्त-पादादि अवयवयुक्त पुरुष आकरा को निकाल कर उसे अवयवों की योजना करते हुए बढ़या।।३।।

गोलक इन्द्रिय के सहित इन्द्रियाधिष्ठातृ देवों की रचना

उस पुरुषाकार पिण्ड के उद्देश्य से ईश्वर ने तप किया अर्थात् उसका अभिध्यान नामक सकंल्प

---

१. अक्षीभ्यामितिच्छान्दसो दीर्घः। २. पुरुणाकारं पिण्डमित्यर्थः। ३. विराडवयवजन्यत्वादिति — तत्राभिव्यक्तेरिति यावत्। ४. अण्डोत्पत्तिरिति — अण्डं ब्रह्माण्डं स एव च विराड् देह इति भावः। ५. न विरोध — इति — अण्डविराजोर्भेदापत्तिर्नेत्यर्थः।

लोमभ्य ओषधिवनस्पतयो हृदयं निरभिद्यत हृदयान्मनो मनसश्चन्द्रमा नाभिर्निरभिद्यत नाभ्या अपानोऽपानान्मृत्युः शिश्नं निरभिद्यत शिश्नाद्रेतो रेतस आपः।।४।।

इत्यैतरेयोपनिषद्यात्मषट्के प्रथमः खण्डः।।१।।

उपनिषत्क्रमेण प्रथमाध्याये प्रथमः खण्डः।।१।।

से लोम और लोमों से औषधि तथा वनस्पतियाँ उत्पन्न हुईं हृदयगोलक उत्पन्न हुआ, हृदय से मन और मन से तदभिमानी चन्द्रमा उत्पन्न हुआ। नाभि उत्पन्न हुई। नाभि से अपान और अपान से मृत्यु प्रकट हुई। (तदनन्तर) शिश्न, शिश्न से शुक्र और शुक्र से उसका अधिष्ठातृदेव जल प्रादुर्भूत हुआ।।४।।

।।इति प्रथमः खण्डः।।

"यस्य ज्ञानमयं तपः"(मु. १-१-९) इत्यादिश्रुतेः। तस्याभितप्तस्येश्वरसंकल्पेन तपसाऽभिप्तस्य पिण्डस्य मुखं निरभिद्यत मुखाकारं सुषिरमजायत। यथा पक्षिणोऽण्डं निरभिद्यतैवम्।

तस्मान्निर्भिन्नान्मुखाद्वाक्करणमिन्द्रियं निरवर्तत तदधिष्ठाताऽग्निस्ततो वाचो लोकपालः। तथा नासिके निरभिद्येताम्। नासिकाभ्यां प्राणः प्राणाद्वायुरिति सर्वत्राधिष्ठानं करणं देवता च त्रयं क्रमेण निर्भिन्नमिति। अक्षिणी कर्णौ त्वग्घृदयमन्तः-

---

तपःशब्देनाभिध्यानशब्दितं ज्ञानमुच्यते न कृच्छ्रादीत्यत्र श्रुतिमाह — यस्येति। यस्य तपो ज्ञानमेव न कृच्छ्रादीत्यर्थः।

ततो वाचो लोकपालोऽग्निर्वागधिष्ठाता निरवर्ततेत्यन्वयः। यद्यपि वागादिकरणजातमपञ्चीकृतभूतकार्यं न मुखादिगोलककार्यं तथाऽपि मुखाद्याश्रये तदभिव्यक्तेर्मुखाद्वागित्युक्तम्। नासिकाभ्यां प्राण इत्यत्र प्राणशब्देन प्राणवृत्तिसहितं घ्राणेन्द्रियमुच्यते। अधिष्ठानमिति। गोलकमित्यर्थः। त्वग्गोलकम्। लोमेति लोमसहचरितं स्पर्शनेन्द्रियमुच्यते। ओषधिवनस्पतय इत्योषध्याद्यधिदेवता वायुरुच्यते। चित्तं तु चेतो हृदयं, हृदयज्ञं चाहृदयज्ञं चेत्यादौ हृदयशब्दस्यान्तःकरणार्थत्वदर्शनान्मनःशब्देनापि तस्यैवाभिधाने [1]पौनरुक्त्यमित्यत आह — हृदयमिति। अन्तःकरणाधिष्ठानं हृदयकमल-

---

किया "जिसका ज्ञानमय तप है" इस श्रुति से भी ज्ञानरूप सिद्ध होता है। ईश्वर के संकल्परूप तप से अभितप्त हुए उस पिण्ड में मुखाकार छिद्र इस प्रकार उत्पन्न हो गया जैसे पक्षी का अण्डा फट जाता है।

उस छिद्ररूप मुख से वाक् इन्द्रिय उत्पन्न हुई और उस वाक् से वाणी का अधिष्ठाता लोकपाल अग्नि उत्पन्न हुआ। इसी प्रकार नासिका छिद्र उत्पन्न हुए, उन नासिका छिद्रों से प्राण और प्राण से वायु उत्पन्न हुआ। ऐसे ही सर्वत्र इन्द्रिय गोलक इन्द्रिय और उसके अधिष्ठातृदेव वे तीनों ही क्रमशः उत्पन्न हुए। दो नेत्र, दो कान और त्वचा इन्द्रिय गोलक है, हृदय अन्तःकरण का गोलक

---

१. पौनरुक्त्यमिति — पदसामानाधिकरण्याभावादसंभव इति युक्तं वक्तुम्।

(अथ द्वितीयः खण्डः)

ता एता देवताः सृष्टा अस्मिन्महत्यर्णवे प्रापतन्।

(इस प्रकार ईश्वर द्वारा लोकपालरूप से) रचे गये वे ये इन्द्रियाभिमानी देवगण (अविद्या, काम और कर्म, जल से परिपूर्ण संसाररूप) महासमुद्र में गिर गये। उस पिण्ड को परमेश्वर ने क्षुधा

करणाधिष्ठानं मनोऽन्तःकरणं नाभिः सर्वप्राणबन्धनस्थानम्। तस्मादपानसंयुक्तत्वादपान इति पाय्विन्द्रियमुच्यते। तस्याधिष्ठात्री देवता मृत्युः। यथाऽन्यत्र तथा शिश्नं निरभिद्यत प्रजननेन्द्रियस्थानमिन्द्रियं रेतो रेतोविसर्गार्थत्वात्सह रेतसोच्यते रेतस आप इति।।४।।

इति श्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवत्कृतावैत-
रेयोपनिषद्भाष्ये प्रथमाध्याये प्रथमः खण्डः।।१।।

ता एता अग्न्यादयो देवता लोकपालत्वेन संकल्प्य सृष्टा ईश्वरेणास्मिन्संसारार्णवे

मित्यर्थः। सर्वप्राणबन्धनस्थानमिति। गुदमूलमित्यर्थः। अपानशब्देन पाय्विन्द्रियलक्षणायां संबन्धमाह — अपानेति। ननु शिश्नं निरभिद्यतेति पर्याये शिश्नरेतसोरुत्पत्त्यभिधाने स्त्रीयोन्यादेरुत्पत्तिरनुक्ता स्यादित्याशङ्क्य शिश्नशब्देनोपस्थेन्द्रियस्थानं लक्ष्यते रेत इति तद्विसर्गार्थत्वेन तत्सहितमुपस्थेन्द्रियमप्शब्देन तल्लक्षितपञ्चभूतोपाधिकः प्रजापतिश्चोच्यत इत्याह — यथेति। यथाऽन्यत्र पर्यायान्तरे स्थानं करणं देवता चेति त्रयमुक्तमेवमिहापि शिश्नादिशब्दैस्त्रयमप्युच्यत इत्यर्थः। रेत इति। इन्द्रियमुच्यत इत्यन्वयः। तल्लक्षणायां संबन्धमाह — सह रेतसेति। रेतसा सहितं तत्संबद्धमित्यर्थः। संबन्धमुपपादयति — रेतोविसर्गार्थत्वादिति।।४।।

इति श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीशुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यभगवदानन्दज्ञानविरचिताया-
मैतरेयोपनिषद्भाष्यटीकायां प्रथमाध्याये प्रथमः खण्डः।।१।।

एवं समष्टीनामिन्द्रियाणां तदभिमानिदेवतानां चोत्पत्तिमुक्त्वाऽथ तासां देवतानां भोगयोग्याल्पव्यष्टिदेहसृष्टिं तेषु देवतानां भोगार्थं व्यष्टिरूपेण प्रवेशं च विवक्षुस्तदुपोद्घातत्वेन क्षुत्पिपासयोः सृष्टिं दर्शयति — ता एता इति। तच्छब्दार्थमाह — अग्न्यादय इति। एतच्छब्दार्थमाह — लोकपालत्वेनेति। अशनायादिसृष्ट्युपयोगित्वेनैतासां स्वरूपाज्ञानपूर्वकं संसारे ब्रह्माण्डरूपे

(अधिष्ठान) है और मन अन्तःकरण है। सम्पूर्ण प्राणों का बन्धन स्थान नाभि है। अपान वायु से युक्त होने के कारण गुदेन्द्रिय अपान शब्द से कही जाती है, उससे उसका अधिष्ठातृ देवता मृत्यु उत्पन्न हुआ। जैसा अन्यत्र बतलाया गया है उसी प्रकार प्रजनन इन्द्रिय का गोलक शिश्न उत्पन्न हुआ। उसमें रेतः इन्द्रिय है, जो रेत त्याग के कारण होने से और रेत से सम्बन्ध होने से रेतः शब्द से कही जाती है और उस रेतः से आप का प्रादुर्भाव हुआ (जो वीर्य के अधिष्ठाता जल स्वरूप है)।।४।।

देवताओं ने अन्न आश्रय माँगा

ईश्वर ने संकल्प करके लोकपालरूप से उन अग्नि आदि देवताओं की सृष्टि की। वे देवगण

तमशनायापिपासाभ्यामन्ववार्जत्। ता एनमब्रुवन्नाय-तनं नः प्रजानीहि मस्मिन्प्रतिष्ठिता अन्न-मदामेति।।१।।

पिपासा से अभिभूत कर दिया, तब उन इन्द्रियाभिमानी देवताओं ने परमेश्वर से कहा कि हमारे लिए कोई स्थान बतलाओ जिसमें बैठकर हम अपने भोज्य वस्तु अन्न का भक्षण कर सकें।।१।।

संसारसमुद्रे महत्यविद्याकामकर्मप्रभवदुःखोदके तीव्ररोगजरामृत्युमहाग्राहेऽनादावनन्तेऽपारे निरालम्बे विषयेन्द्रियजनितसुखलवलक्षणविश्रामे पञ्चेन्द्रियार्थतृणमारुतविक्षोभोत्थितानर्थशतमहोर्मौ महारौरवाद्यनेकनिरयगतहाहेत्यादिकूजिताक्रोशनोद्भूतमहारवे सत्यार्जवदानदयाऽहिंसाशमदमधृत्याद्यात्मगुणपाथेयपूर्णज्ञानोडुपे सत्सङ्गसर्वत्यागमार्गे मोक्षतीर एतस्मिन्महत्यर्णवे प्रापतन्पतितवत्यः।

पतितत्वमासक्तत्वं तन्मात्रत्वाभिमानेन यद्बद्धत्वं तदाह — अस्मिन्निति। अर्णवसादृश्यमाह — अविद्येत्यादिना। अविद्यादिप्रभवं दुःखमेव दुष्प्रवेशनगुणेनोदकमिवोदकं यस्मिंस्तीव्ररोगादय एव भयंकरत्वेन ग्राहा नक्रादयो यस्मिंस्तत्वज्ञानमन्तरेण विनाशाभावादनन्तेऽज्ञानामुत्तरावध्यभावेनापारे विश्रामस्थानाभावेन निरालम्बे। समीचीनविश्रामस्थानाभावेऽपि तदाभासोऽस्तीत्याह — विषयेन्द्रियेति। विषयेन्द्रियसंबन्धजनितसुखलेशरूपो विश्रामो यस्मिन्पञ्चेन्द्रियाणामर्थेषु विषयेषु शब्दादिषु या तृट् तृष्णा सैव मारुतस्तत्कृतो यो विक्षोभस्तेनोत्थितान्यनर्थशतानि विषयसंपादनादिना क्लेशास्त एवोर्मयो यस्मिन्महारौरवादय एवानेके निरया नरकविशेषास्तद्गतानां गर्भवासतन्निष्क्रमणबाल्यादयो मरणान्ता येऽनेके निरया दुःखजनकत्वात्तद्गतानां च यानि हा हेत्यादीनि कूजितानि स्वल्पध्वनय आक्रोशनानि महाध्वजयस्तदुद्भूतो महारवो यस्मिन्। महापातकाद्यनेकनिरयेति पाठे महापातकजन्या निरया इति द्रष्टव्यम्। संसारार्णवस्यैवंभूतत्वे तस्य तरणासंभवान्मोक्षशास्त्रानर्थक्यमित्याशङ्क्या-विवेकिनां तथात्वेऽपि विवेकिनां तत्तरणोपायोऽस्तीत्याह — सत्येति। सत्यादयो य [१]आत्मगुणास्त एव पाथेयं पथ्यशनं तेन पूर्णं ज्ञानमेवोडुपं प्लवो यस्मिन्। सत्सङ्गो गुरुसंपत्तिः सर्वत्यागः संन्यासस्तावेव मार्गो ज्ञानोडुपप्रवृत्तिहेतुर्यस्मिन्मोक्षे सति पुनः संसारार्णवस्पर्शाभावात्स एव तीरवत्तीरं यस्मिन्नेतस्मिन्प्रत्यक्षसिद्धेऽर्णव इत्यर्थः। अत्र पतनं नामाऽऽत्मस्वरूपाज्ञानेन संसारेऽहमभिमानेन सक्तत्वम्।

अत्यन्त महान् संसार समुद्र में (पड़े थे) जिस संसार समुद्र में अविद्या, कामना और कर्म से उत्पन्न दुःखरूप जल भरा था और जो तीव्ररोग जरा एवं मृत्युरूप महाग्राहों से संकुल था, वह संसार सागर अनादि, अनन्त, अपार एवं निरालम्ब है। विषय और इन्द्रियों के सम्पर्क से होने वाला क्षणिक सुख ही जिसकी क्षणिक विश्रान्ति का स्वरूप है। जिसमें पाँचों इन्द्रियों की विषय तृष्णारूप हवा के विक्षोभ से उठी हुई अनर्थरूप सैकड़ों उत्ताल तरंगे हैं। जहाँ पर महारौरव आदि अनेकों नरकों के हाहा आदि क्रन्दन और चीख से बड़ा भारी कोलाहल मचा हुआ है। जिसमें सत्य, सरलता, दान, दया, अहिंसा, शम, दम और धैर्य आदि आत्मा के सद्गुणरूप पाथेय से भरी ज्ञानरूप नौका है, सत्संग और सर्वस्व त्याग ही जिसमें (पूर्वोक्त नौकाओं के आने-जाने का) मार्ग है तथा मोक्ष ही जिसका किनारा

---

१. आत्मज्ञानानुगुणा आत्मगुणाः।

तस्मादग्न्यादिदेवताप्ययलक्षणाऽपि या गतिर्व्याख्याता। ज्ञानकर्मसमुच्चयानुष्ठानफलभूता साऽपि नालं संसारदुःखोपशमायेत्ययं विवक्षितोऽर्थोऽत्र यत एवं तस्मादेवं विदित्वा परं ब्रह्माऽऽत्माऽऽत्मनः सर्वभूतानां च यो [1]वक्ष्यमाणविशेषणः प्रकृतश्च जगदुत्पत्तिस्थितिसंहारहेतुत्वेन सर्वसंसारदुःखोपशमनाय वेदितव्यः। तस्मात् "एष पन्था एतत्कर्मैतद्ब्रह्मैतत्सत्यम्" यदेतत्परब्रह्मात्मज्ञानम्। "नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" (श्वे. ३-८) इति मन्त्रवर्णात्।

ननु संसारार्णवपतितत्वं वक्ष्यमाणाशनायादियोग इत्यादिसर्वोऽपि बन्धस्तदभिमानिनो जीवस्य वक्तव्यो न देवतानाम्। न च तासामपि तत्राभिमानोऽस्तीति तदुक्तमिति शङ्कनीयम्। तथाऽपि प्राधान्यतोऽभिमानिनं जीवं विहायाप्राधान्यतोऽभिमानिनीषु तदुक्तेरेभिप्रायो वक्तव्य इत्यत आह – तस्मादिति। यस्मात्संसारार्णवपतितत्वं तासां तस्मादित्यर्थः। महारौरवाद्यनेकनिरयगतिरिवेति पाठ उक्तनिरयगतिर्यथा दुःखोपशमाय नालं तथा साऽपि ज्ञालमिति पूर्वेणान्वयः। तद्विवक्षाया अपि प्रयोजनमाह – यत एवमिति। एवं विदित्वेति। नालमिति विदित्वेत्यर्थः। आत्मनः सर्वभूतानां चाऽऽत्मा य आत्मा वा इदमित्यादिना जगदुत्पत्त्यादिहेतुत्वेन यः प्रकृतः स परं ब्रह्म वेदितव्य इत्यान्वयः। नन्वेष पन्था एतत्कर्मैतद्ब्रह्मैतत्सत्यमित्युपक्रम्यो[2]क्थमुक्थमिति वा इत्यादिना कर्मसंबन्धिसगुणब्रह्मात्मज्ञानस्यैवोक्तत्वात्तस्यैव मोक्षसाधनत्वं नोक्तकेवलात्मज्ञानमात्रस्येत्याशङ्क्यैष पन्था इत्यादिना ब्रह्मात्मविज्ञानमेवोक्तं न कर्म समुच्चितं ज्ञानं तस्यो[3]क्तवाक्येन संसारहेतुत्वावगमेन सत्यत्वायोगादित्याह – तस्मादेष पन्था इति। यस्मात्कर्मसहितस्य प्राणविज्ञानस्य संसारफलत्वं तस्मादेषा पन्था इत्यनेन यदेतद्ब्रह्मात्मविज्ञानं तदेवोक्तमित्यन्वयः। "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" (श्वे. ३-८) इत्यनेनापि केवलात्मविज्ञानव्यतिरिक्तपथनिषेधादप्युक्तमेव ज्ञानं पन्था इत्याह – नान्य इति। एष पन्था इति ब्रह्मात्मज्ञानमुपक्रम्य मध्ये प्राणविज्ञानोक्तिस्तु प्राणोपासनया चित्तैकाग्र्ये सति तत्फलाच्च वैराग्ये सत्येष पन्था इत्युपक्रान्तं मुख्यं ज्ञानं वक्तुंशक्यमित्यभिप्रायेणेति भावः। यद्याप्येतद्वाक्यव्याख्यानावसरे कर्ममार्गोऽपि पथिशब्दार्थत्वेनोक्तस्तथाऽपि ज्ञानमार्गोपायत्वेन स उक्तो न प्राधान्येनेति भावः।

है। ऐसे संसार महासागर में (ईश्वर से रचे लोकपाल) पड़े थे।

अत: यहाँ पर यही अर्थ बतलाना अभीष्ट है कि ज्ञान और कर्म के समुच्चय अनुषठान की फलस्वरूपा अग्नि आदि देवता में लीन होना रूप जिस गति की व्याख्या पूर्व अध्यायों में की जा चुकी है, वह फल भी सांसारिक दुःखों की शान्ति के लिए पर्याप्त नहीं है क्योंकि ऐसी बात है कि (देवता में विलय होना संसार दुःखों से छूटने का समुचित उपाय नहीं है) ऐसा जानकर जो परब्रह्म अपना और सभी प्राणियों का आत्मा है, जो आगे कहे जाने वाले विशेषणों से युक्त है, जिसका यहाँ पर प्रसंग चल रहा है और जो संसार की उत्पत्ति, स्थिति और संहार कारणरूप से प्रकान्त है, उसी को संसार के सम्पूर्ण दुःखों की निवृत्ति के लिए जानना चाहिए। अतः "मोक्ष प्राप्ति का और कोई मार्ग नहीं है" इस श्रुति के अनुसार यह जो परब्रह्म का आत्मस्वरूप से ज्ञान है "यही मार्ग है, यही कर्म है, यही ब्रह्म है और यही सत्य है" ऐसा सिद्ध होता है।

---

१. ऐ० २-१-३ "एष ब्रह्मैष इन्द्र" इत्यादिवक्ष्यमाणं विशेषणः। २. उक्थमुक्थमिति – उत्तिष्ठति जगदस्मादित्युक्थं हिरण्यगर्भतत्त्वम्। ३. उक्तवाक्येनेति – अत्ता ह वै सर्वस्यान्नजातस्य भवति आद्यो वा भवतीति वाक्येनेत्यर्थः।

ताभ्यो गामानयत्ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति।
ताभ्योऽश्वमानयत्ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति।।२।।

उन देवताओं के लिए गौ के आकार वाला पिण्ड जल से निकाल कर ले आया। देवताओं ने कहा यह हमारे लिए पर्याप्त नहीं है फिर उन देवों के लिए पूर्ववत् घोड़ा लाया, फिर भी देवताओं ने कहा कि यह हामरे लिए (अन्नभक्षण के निमित्त आश्रय) पर्याप्त नहीं है।।२।।

तं स्थानकरणदेवतोत्पत्तिबीजभूतं पुरुषं प्रथमोत्पादितं पिण्डमात्मानमाशनायापिपासाभ्यामन्ववार्जदनुगमितवान्सयोजितवानित्यर्थः। तस्य कारणभूतस्याशनायादिदोषवत्त्वात्तत्कार्यभूतानामपि देवतानामशनायादिमत्त्वम्।

तास्ततोऽशनायापिपासाभ्यां पीड्यमाना एनं पितामहं स्त्रष्टारमब्रुवन्नुक्तवत्यः। आयतनमधिष्ठानं नोऽस्मभ्यं प्रजानीहि विधत्स्व। यस्मिन्नायतने प्रतिष्ठिताः समर्थाः सत्योऽन्नमदाम भक्षयाम इति।।१।।

एवमुक्त ईश्वरस्ताभ्यो देवताभ्यो गां गवाकृतिविशिष्टं पिण्डं ताभ्य एवाद्भ्यः। पूर्ववत्पिण्डं समुद्धृत्य मूर्छयित्वाऽऽनयद्दर्शितवान्। ताः पुनर्गवाकृतिं दृष्ट्वाऽब्रुवन्। न वै

ननु पिण्डस्याशनायादियोगे देवतानां कथं तद्वत्त्वं येन तासामन्नादनार्थमायतनप्रश्नः स्याद्यस्मिन्प्रतिष्ठिता इत्यनेनेत्यत आह — तस्येति।

पितामहमिति। स्वजनकपिण्डजनकमित्यर्थः। अधिष्ठानमिति। शरीरमित्यर्थः ननु विराड्देह एवाऽऽयतनं वर्तत इत्याशङ्क्य तस्यातिप्रौढत्वात्तमापूर्य तत्र स्थातुं वयमसमर्था अन्नं च तद्देहपर्याप्तं संपादयितुमसमर्थाः, अतोऽस्मद्योग्यं व्यष्टिदेहं सृजस्वेत्युक्तवत्य इत्याह — यस्मिन्निति। यद्यप्यस्मदादिव्यष्टिदेहं विनाऽपि चरुपुरोडाशादिहविरदनमस्ति तथाऽपि तदपि हविरदनं व्यष्टिदेवतादेहमन्तरा नास्तीति भावः।।१।।

व्यष्टिदेहसृष्टिमाह — ताभ्य इति। मूर्छयित्वेति। निबिडतया परस्परावयवसंयोजनेन सृष्ट्-

---

इन्द्रिय गोलकरूप स्थान, इन्द्रिय और इन्द्रिय अभिमानी देवताओं की उत्पत्ति के बीजभूत पुरुषरूप से प्रथम उत्पन्न किये गये उस पिण्ड आत्मा को परमेश्वर ने भूख और प्यास से संयुक्त कर दिया। उस कारण रूप पिण्ड के क्षुधा आदि दोषों से युक्त होने के कारण उसके कार्यरूप देवता आदि भी क्षुधा आदि दोषों से युक्त हो गये।

तत्पश्चात् भूख प्यास से पीडित होकर उन देवताओं ने उस जगत् स्त्रष्टा पितामह से कहा हमारे लिए स्थान की व्यवस्था करो जिस स्थान में प्रतिष्ठित होकर हम सामर्थ्य युक्त हो अन्न का भक्षण कर सकें।।१।।

देवताओं ने गौ और अश्व शरीर को ठुकराया

इस प्रकार देवताओं से प्रर्थाना किये जाने पर ईश्वर ने उन देवताओं के लिए पूर्व की भाँति गौ के आकार वाला पिण्ड उस जल से निकालकर अवयवों की योजना द्वारा बनाकर लाया अर्थात् उन देवताओं को ऐसी आकृति दिखलायी। गौ के समान आकार वाले प्राणी को देखकर वे देवता

ताभ्यः पुरुषमानयत्ता अब्रुवन्सुकृतं बतेति पुरुषो वाव सुकृतं ता अब्रवीद्यथायतनं प्रविशतेति।।३।।

उनके लिए अपनी उपलब्धि के योग्य पुरुष शरीर ले आया (देखते ही प्रसन्न हो) देवताओं ने कहा — यह शरीर सुन्दर बना है, निश्चय पुरुष ही सुन्दर रचना है। उन देवताओं से परमेश्वर ने कहा कि अपने-अपने आश्रयस्थानों में तुम प्रवेश कर जाओ।।३।।

नोऽस्मदर्थमधिष्ठायान्नमत्तुमयं पिण्डोऽलं न वै। अलं पर्याप्तोऽत्तुं न योग्य इत्यर्थः।

गवि प्रत्याख्याते ताभ्योऽश्वमानयत्ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति पूर्ववत्।।२।।

सर्वप्रत्याख्याने ताभ्यः पुरुषमानयत्स्वयोनिभूतम्। ताः स्वयोनिपुरुषं दृष्ट्वाऽखिन्नाः सत्यः सुकृतं शोभनं कृतमिदमधिष्ठानं बतेत्यब्रुवन् तस्मात्पुरुषो वाव पुरुष एव सुकृतं सर्वपुण्यकर्महेतुत्वात्। स्वयं वा स्वेनैवाऽऽत्मना स्वमायाभिः कृतत्वात्सुकृतमुच्यते। ता देवता ईश्वरोऽब्रवीदिष्टमासामिदमधिष्ठानमिति मत्वा सर्वे हि स्वयोनिषु रमन्ते। अतो यथायतनं यस्य यद्वदनादिक्रियायोग्यमायतनं तत्प्रविशतेति।।३।।

वेत्यर्थः। न योग्य इति। गोशरीरस्योपरिदन्तानामभावेन दूर्वादिमूलस्योत्खातुमशक्यत्वादित्यर्थः।

अश्वमिति। तस्योभयतोदन्तत्वेनोक्तदोषाभावादित्यर्थः। न वै नोऽयमलमिति। अश्वस्यापि विवेकज्ञानाभावादयोग्यत्वादित्यर्थः।।२।।

गवाश्वग्रहणस्य सर्वतिर्यग्देहोपलक्षकत्वमभिप्रेत्योक्तम् — सर्वेति। स्वयोनिभूतमिति। स्वयोनिभूतविराट्पुरुषदेहसजातीयमित्यर्थः। यस्मात्स्वकीयपरितोषद्योतकेन सुकृतं बतेत्यनेन शब्देन पुरुषदेहमुक्तवत्यस्तस्मात्तस्येदानीमपि सुकृतत्वमित्याह — तस्मादिति। स्वयं वेति। ईश्वरेण स्वेनैव कृतं भृत्यादिकृतापेक्षया सुकृतं सुष्ठुकृतमित्यर्थः। पृषोदरादित्वात्स्वयमितिस्थाने सुशब्द इत्यर्थः। एवं व्यष्टिदेहसृष्टिमुक्त्वा तत्र करणानां देवतानां च व्यष्टिरूपेण प्रवेशमाह — ता देवता इति। इष्टत्वे हेतुमाह — सर्वे हीति। आयतनमिति। गोलकरूपं स्थानमित्यर्थः।।३।।

फिर बोल उठे कि यह पिण्ड हमारे लिये अन्न भक्षण योग्य स्थान पर्याप्त नहीं है अर्थात् इस स्थान में बैठकर भोजन करना उचित नहीं है।

गवाकृति के परित्याग कर देने पर उन देवताओं के लिये ईश्वर ने घोड़ा लाया तब वे देवता पूर्व की भाँति कह उठे कि हमारे लिये यह भी पर्याप्त नहीं है।।२।।

देवताओं ने मनुष्य शरीर को अपनाया

इस प्रकार सबका निषेध कर देने पर उन देवताओं के लिये ईश्वर ने उनका योनि स्वरूप पुरुष को लाया। अपने योनिरूप उस पुरुष को देखकर वे देवगण खेद रहित प्रसन्न हो इस प्रकार बोले यह स्थान सुंदर बना हुआ है। अतः सभी पुण्य कर्मों का सम्पादन कारण होने से निःसन्देह पुरुष ही सुकृत है अथवा स्वयं अपने आप अपनी ही माया से रहित होने के कारण इसे सुकृत शब्द से कहा जाता है। सभी अपनी योनि में सन्तुष्ट रहा करते हैं। तदनुसार उन देवताओं को भी यह स्थान प्रिय

अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशद्वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशदादित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशद्दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्नोषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशश्चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशन्मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशदापो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन्।।४।।

(वागिन्द्रिय के अभिमानी देव) अग्नि ने वाणी होकर मुख में प्रवेश किया, वायु ने प्राण होकर नासिकाछिद्र में प्रवेश किया, सूर्य चक्षु होकर नेत्रों में प्रविष्ट हुआ, दिशाएँ श्रोत्रेन्द्रिय होकर कानों में प्रविष्ट हुईं औषधि और वनस्पतियाँ लोम होकर त्वचा में प्रविष्ट हुईं, चन्द्रमा मन होकर हृदय में प्रविष्ट हुआ, मृत्यु अपान होकर नाभि में प्रविष्ट हुई और जल वीर्य होकर शिश्न इन्द्रिय में प्रविष्ट हुआ।।४।।

तथाऽस्त्वित्यनुज्ञां प्रतिलभ्येश्वरस्य नगर्यामिव बलाधिकृतादयोऽग्निर्वागभिमानी वागेव भूत्वा स्वां योनिं मुखं प्राविशत्तथोक्तार्थमन्यत्। वायुर्नासिके आदित्योऽक्षिणी दिशः कर्णावोषधिवनस्पतयस्त्वचं चन्द्रमा हृदयं मृत्युर्नाभिमापः शिश्नं प्राविशन्।।४।।

राज्ञोऽनुज्ञां प्रतिलभ्य बलाधिकृतादयः सेनापत्यादयो नगर्यां यथा प्रविशन्ति तद्वदीश्वरस्यानुज्ञां प्रतिलभ्याग्निः प्राविशदित्यन्वयः। [1]यद्यपि वागभिमान्यग्निर्न तु वागेव तथाऽपि तस्य वाचं विना प्रत्यक्षमनुपलब्धेस्तस्या अपि देवतां विना स्वविषयग्रहणसामर्थ्याभावात्तयोरेकलोलीभावेनाभेदोक्तिरित्याह – वागेवेति। यद्यपि देवतानामेवेश्वरेण प्रवेशश्चोदितस्तथाऽपि करणैर्विना तासां साक्षाददनादिभोगासंभवात्तेषामपि प्रवेशोऽर्थाच्चोदित एवेति तेषामपि स उक्तः।।४।।

है। ऐसा समझकर ईश्वर ने इन देवताओं से कहा कि जिसका जो स्थान है उस अपनी सम्भाषणादि क्रिया के योग्य आयतन में तुम लोग प्रविष्ट हो जाओ।।३।।

अपने-अपने स्थानों में देवताओं का प्रवेश

ऐसा ही हो इस प्रकार राजा की आज्ञा पाकर नगर में सेना अध्यक्ष आदि के समान वागिन्द्रिय के अभिमानी अग्नि ने वाक् होकर अपने कारण स्वरूप मुख में प्रवेश किया। ऐसा ही अर्थ औरों का भी समझना चाहिए अर्थात् वायु नासिका में, सूर्य नेत्र में, दिशा कानों में औषधि और वनस्पतियाँ त्वचा में, चन्द्रमा हृदय में मृत्यु नाभि में और जल शिश्न में प्रविष्ट हो गये।।४।।

क्षुधा और पिपासा का विभाजन

इस प्रकार देवताओं के स्थान पा लेने पर आश्रय हीन होने के कारण क्षुधा और पिपासा ने उस ईश्वर से कहा कि हमारे लिये अधिष्ठान का विधान करो, ऐसा कहने पर उस ईश्वर ने उन भूख

---

१. यद्यपि वागभिमान्येवाग्निर्न तु वागित्यन्वयः।

तमशनायापिपासे अब्रूतामावाभ्यामभिप्रजानीहीति
ते अब्रवीदेतास्वेव वां देवतास्वाभजाम्येतासु भागिन्यौ
करोमीति। तस्माद्यस्यै कस्यै च देवतायै हविर्गृह्यते
भागिन्यावेवास्यामशनायापिपासे भवतः।।५।।

इत्यैतरेयोपनिषद्यात्मषट्के द्वितीयः खण्डः।।२।।

उपनिषत्क्रमेण प्रथमाध्याये द्वितीयः खण्डः।।२।।

उस ईश्वर से क्षुधा पिपासा ने (आश्रयहीन होने के कारण) कहा — हमारे लिए आश्रय का चिन्तन करो। तब परमेश्वर ने उससे कहा — तुम दोनों को मैं इन्हीं देवताओं में भागीदार बना दूँगा अतः जिस किसी देवता के लिए हवि दी जाती है उस देवता की हवि में भूख-प्यास भी भागीदार होती ही हैं (सृष्टि के आदि में ईश्वर द्वारा की गयी व्यवस्था आज भी सर्वत्र दीख पड़ती है)।।५।।

।।इति द्वितीयः खण्डः।।

एवं लब्धाधिष्ठानासु देवतासु निरधिष्ठाने सत्यावशनायापिपासे तमीश्वरमब्रूतामुक्तवत्यावावाभ्यामधिष्ठानमभिप्रजानीहि चिन्तय विधत्स्वेत्यर्थः। स ईश्वर एवमुक्तस्ते अशनायापिपासे अब्रवीत्। न हि युवयोर्भावरूपत्वाच्चेतनावद्वस्त्वनाश्रित्यान्नात्तृत्वं संभवति। तस्मादेतास्वेवाग्न्याद्यासु वां युवां देवतास्वध्यात्माधिदेवतास्वाभजामि वृत्ति-

---

अशनायापिपासयोरपि व्यष्टिदेहेऽपि करणाधिष्ठातृदेवतासंबन्धं वक्तुं तयोः प्रश्नमवतारयति — एवमिति। निरधिष्ठाने सत्याविति कारणीभूते विराड्देहेऽधिष्ठानविशेषो यदि स्यादशनायापिपासयोरग्न्यादीनां मुखादय इव तदा व्यष्टिदेहेऽपि तदेव स्यात्तयोरधिष्ठानं तेषामिव न त्वेतदस्ति। अतो निरधिष्ठाने ते इत्यर्थः। विधत्स्वेत्यनन्तरं यस्मिन्प्रतिष्ठिते अन्नमदावेति शेषः। तत्राधिष्ठानविशेषस्तावद्युवयोः कारणे समष्टिदेहेऽभावादिहापि नास्त्येव कारणपूर्वकत्वात्कार्येऽप्यधिष्ठानस्या[१]दनं तु युवयोर्धर्मरूपत्वाद्धर्मिणमनाश्रित्य धर्मस्य स्वातन्त्र्यायोगाच्चेतनावद्धर्मिभूतदेवतागतमेवान्नादनं युवयोरित्याह — स ईश्वर इति। भावरूपत्वादिति। धर्मरूपत्वादित्यर्थः। धर्मिणोऽप्यचेतनस्य भोक्तृत्वादर्शनाच्चेतनावद्वस्त्वित्युक्तम्। अध्यात्मेति। अध्यात्मदेवता व्यष्टिदेहगतदेवता अधिदेवताः समष्टिविराड्देहगता हविर्भुजोऽग्न्यादयः प्रसिद्धास्तास्वित्यर्थः। वृत्तीति। भोगैकदेशदानेनेत्यर्थः। एतदेव स्पष्टी

प्यास से कहा कि भावरूप होने के कारण किसी चेतन वस्तु को आश्रय किये विना तुम दोनों का अन्न भक्षण करना सम्भव नही है। अतः अधिदैव अग्नि आदि देवताओं में ही तुम दोनों को आभाजित कर देता हूँ अर्थात् वृत्ति का सम विभाग करके तुम्हें अनुग्रहीत कर रहा हूँ। मैं तुम्हें इन देवताओं में भागीदार बना देता हूँ। इसका अभिप्राय यह है कि जिस देवता का जो हवि आदि भाग है उसके

---

१. अदनं त्विति — देवतागतमेव त्वदनं युवयोरन्नादनमिति योज्यम्।

संविभागेनानुगृह्णामि। एतासु भागिन्यौ यद्देवत्यो यो भागो हविरादिलक्षणः स्यात्तस्यास्तेनैव भागेन भागिन्यौ भागवत्यौ वां करोमीति सृष्ट्यादावीश्वर एवं व्यदधाद्यस्मात्तस्मादिदानीमपि यस्यै कस्यै च देवताया अर्थाय हविर्गृह्यते चरुपुरोडाशादिलक्षणं भागिन्यावेव भागवत्यावेवास्यां देवतायामशनायापिपासे भवतः।।५।।

इति श्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवत्कृतावैतरेयोपनिषद्भाष्ये प्रथमाध्याये द्वितीयः खण्डः।।२।।

करोति — एतासु भागिन्याविति। साक्षाद्देवतासु भागवत्त्वायोगाद्देवताभागेन भागवत्त्वमंशवत्त्वमुक्तमिति व्याचष्टे — यद्देवत्य इति। यद्देवत्यो यद्देवतासंबन्धी यो भागः स्यात्तस्या देवतायाः संबन्धिना तेनैव भागेनेत्यर्थः। हविरादीत्यादिशब्देन तत्तदिन्द्रियविषयोऽपि गृह्यते। करोमीतीत्यनन्तरमुक्त्वेति शेषः। उक्तमर्थमिदानींतनव्यवहारेण दृढीकर्तुं तस्मादित्यादिवाक्यं तद्व्याचष्टे — यस्मादिति। यस्मात्सृष्ट्यादावेवं व्यदधात्तस्मादित्यर्थः। हविर्ग्रहणमुपलक्षणमधिदैवतं हविर्गृह्यतेऽध्यात्मदेवतायै शब्दादिविषयो गृह्यत इति योज्यम्। भागिन्यावेवेति। यद्यपि शब्दादिविषयेण हविषा चाग्न्यादिदेवतातृप्तौ तयोर्नाश एव दृश्यते न तु तद्भागेन भागित्वं तथाऽपि तयोः सर्वात्मना नाशे पुनः कालान्तरे ते न स्याताम्। अतः स्वरूपेण स्थितयोरेव तयोः कदाचिदिन्द्रियदेवतानां विषयोन्मुखतया प्रेरकत्वरूपं कार्यौन्मुख्यं कदाचित्तदभावरूपोपशान्तिरित्यभ्युपगन्तव्यम्। तथा च हविषा देवतातृप्तावशनायापिपासयोरपि तृप्तिरुपशान्तिर्दृश्यत इति तद्भागेन भागवत्त्वमुक्तमित्यर्थः। न च चक्षुरादिना रूपादिग्रहणदशायामशनायापिपासयोर्न शान्तिर्दृश्यत इति न सर्वत्र भागवत्त्वं तयोरिति शङ्क्यम्। क्षुत्पिपासातस्यान्नपानदर्शनश्रवणादिनाऽन्नपानप्रत्यासत्तिपरितोषेण मनसि तृष्णा शान्तेव भाति। न तु यथापूर्वं बाधत इति चक्षुरादिष्वपि तयोर्भागवत्त्वमित्युक्तं सायणीयदीपिकायाम्। वस्तुतस्त्वशनायापिपासाशब्देनेन्द्रियाणां स्वस्वविषयगोचरौ [1]तृष्णाकामावुच्येते। अन्नमदामेत्यत्राप्यन्नादनं स्वस्वविषयग्रहणमेव चक्षुरादीन्द्रियदेवतानां मुख्यादनासंभवात्। तथा च रूपादिविषयग्रहणेन तत्तद्विषयगोचरयोस्तयोः शान्तिरस्तीति सर्वेन्द्रियेष्वपि तयोर्भगवत्त्वं युक्तमिति। न चेन्द्रियदेवतातृप्तिव्यतिरेकेण न तयोः पृथक्तृप्तिर्दृश्यत इति वाच्यम्। इन्द्रियदेवतानां स्वस्वविषयोन्मुखतया प्रेरकत्वरूपकार्यौन्मुख्यनिवृत्तिरूपोपशान्तिरेव पृथक्तयोस्तृप्तिरस्तीत्युक्तत्वात्। यद्यप्यर्णवप्रवेशनमशनायादिमत्त्वं तन्निमित्तमन्नादनमित्यादि सर्वं कार्यकरणसंघातपञ्जराध्यक्षस्य जीवस्य भोक्तुरेव नेन्द्रियदेवतानामशनायापिपासादि तथाऽपि तस्य वस्तुतोऽभोक्तृब्रह्मभूतस्य स्वतो भोक्तृत्वायोगादिन्द्रियदेवता[2]द्युपाधिकृतमेव तस्य भोक्तृत्वादिसर्वसंसार इति वक्तुं तेष्वेव तमारोप्य श्रुत्योच्यत इति न दोषः।।५।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीशुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यभगवदानन्दज्ञानविरचितायामैतरेयोपनिषद्भाष्यटीकायां प्रथमाध्याये द्वितीयः खण्डः।।२

उसी भाग से मैं तुम्हें उनका भागीदार बना देता हूँ। जबकि सृष्टि के आदि में ईश्वर ने ऐसी व्यवस्था कर दी थी; इसीलिये आज भी जिस किसी देवता के लिये चरु पुरोडाश आदि हवि ग्रहण की जाती है उस देवता में ये क्षुधा पिपासा भी भागीदार होती है।।५।।

---

१. तृष्णाकामाविति — अलाभकालीनेच्छा तृष्णा लाभकालीना तु सा काम इति विवेक्तव्यम्। २. उपाधिकृतमेवेति — अत्रोपाधिकृत एवेति युक्तः पाठः संसारविशेषणत्वात्। भोक्तृत्वादीति वा भिन्नं पदमास्थाय तद्विशेषणमेवैतत्। स एव च सर्वसंसार इति पृथग्व्याख्येयम्।

।। अथ तृतीयः खण्डः।।

स ईक्षतेमे नु लोकाश्च लोकपालाश्चान्नमेभ्यः सृजा इति।।१।।

सोऽपोऽभ्यतपत्ताभ्योऽभितप्ताभ्यो मूर्तिरजायत या वै सा मूर्तिरजायतान्नं वै तत्।।२।।

उस ईश्वर ने ईक्षण किया कि इन लोक और लोकपालों की (रचना तो मैंने की) अब मैं इन लोकपालों के लिये अन्न की रचना करूँ।।१।।

(अन्न की सुष्टि की इच्छा से) उस ईश्वर ने पूर्वोक्त जलों को लक्ष्य करके तप किया। उन अभितप्त जलों से ही (चराचर घनीभूत एक) मूर्ति उत्पन्न हुई यह जो मूर्ति उत्पन्न हुई, वह अन्न ही है।।२।।

स एवमीश्वर ईक्षत। कथमिमे नु लोकाश्च लोकपालाश्च मया सृष्टा अशनायापिपासाभ्यां च संयोजिताः। अतो नैषां स्थितिरन्नमन्तरेण, तस्मादन्नमेभ्यो लोकपालेभ्यः सृजै सृज इति। एवं हि लोक ईश्वराणामनुग्रहे निग्रहे च स्वातन्त्र्यं दृष्टं स्वेषु तद्वन्महेश्वरस्यापि सर्वेश्वरत्वात्सर्वान्प्रति निग्रहानुग्रहे स्वातन्त्र्यमेव।।१।।

स ईश्वरोऽन्नं सिसृक्षुस्ता एव पूर्वोक्ता अप उद्दिश्याभ्यतपत्। ताभ्योऽभितप्ताभ्य उपादानभूताभ्यो मूर्तिर्घनरूपं धारणसमर्थं च चराचरलक्षणमजायतोत्पन्नमन्नं वै तन्मूर्तिरूपं या वै सा मूर्तिरजायत।।२।।

एवं भोगसाधनसृष्टिमुक्त्वा भोग्यसृष्टिं वक्तुमारभते — स एवमिति। नुशब्दोक्तं वितर्कं स्पष्टीकरोति — लोका इत्यादिना। पूर्ववल्लोकलोकपालप्रार्थनां विना स्वयमेवान्नं स्रष्टुं वितर्कितवानित्युक्तेः प्रयोजनमीश्वरत्वज्ञापनमित्याह — एवं हीति।।१।।

अप इति। पञ्च भूतानीत्यर्थः। अभ्यतपदिति। एतेभ्यो भूतेभ्यो मनुष्यादीनामन्नभूता व्रीह्यादयो जायन्तां मार्जारादीनामन्नभूतानि [1]मूषकादीनि जायन्तामिति पर्यालोचनं संकल्पं कृतवानित्यर्थः। मूर्तिशब्देन करचरणादिमतोऽभिधाने व्रीह्यादेरग्रहणं स्यादत आह — घनरूपमिति। कठिनमित्यर्थः। नन्वमूर्तानामपि वायुचन्द्रकिरणादीनां सर्पादीन्प्रत्यन्नत्वमस्तीति तत्संग्रहार्थमाह — धारणसमर्थं चेति। शरीरधारणसमर्थमित्यर्थः। चरेति। चरं मूषकाद्यचरं व्रीह्यादीत्यर्थः। या वै सा मूर्तिरजायतान्नं वै तदिति पूर्वेणान्वयः। तच्छब्दार्थमाह — मूर्तिरूपमिति।।२।।

अन्न सृष्टि का संकल्प

उस ईश्वर ने इस प्रकार संकल्प किया। किस प्रकार? मैंने इन लोकों और लोकपालों की रचना तो करदी। साथ ही इन्हें भूख प्यास से संयुक्त भी कर दिया। अतः अन्न के विना अब इनकी स्थिति रह नहीं सकती। इसीलिये अब इन लोकपालों के निमित्त मैं अन्न भी बनाऊँगा। इस प्रकार लोक मे समर्थ ईश्वरों की अपने आत्मीय पुरुषों के प्रति अनुग्रह और निग्रह करने की स्वतन्त्रता

---

१. मूषकादीनीति — यद्यपि सर्वप्रत्याख्याने इत्यनेन गतार्थमेतत् तथापि तेष्वन्नत्वमात्रमत्र संकल्प्यत इत्यवधेयम्।

तदेनत्सृष्टं पराङत्याजिघांसत्तद्वाचाऽजिघृक्षत्त-न्नाशक्नोद्वाचा ग्रहीतुं स यद्धैनद्वाचाऽ[1]ग्रहैष्यदभिव्याहृत्य हैवान्नमत्रप्स्यत्।।३।।

(लोकपालों के निमित्त) निर्मित उस इस अन्न ने (अन्न भोक्ता को अपना मृत्यु समझकर) उनकी ओर से मुख मोड़कर भागना चाहा। तब उस आदि पुरुष ने अन्न को वाणी से ग्रहण करना चाहा, किन्तु वह उसे वदनक्रिया से ग्रहण करने में समर्थ न हो सका। यदि उस अन्न को (आदिपुरुष) वाणी से ग्रहण कर लेता तो उसके कार्यभूत (उसके परवर्ती पुरुष भी) अन्न को बोलकर ही तृप्त हो जाया करते।।३।।

तदेनदन्नं लोकपालानामर्थेऽभिमुखे सृष्टं तद्यथा मूषकादिर्मार्जारादिगोचरे सन्मम मृत्युरन्नाद इति मत्वा परागञ्चतीति पराङ्सदत्तृनतीत्याजिघांसदतिगन्तुमैच्छत्पलायितुं प्रारभतेत्यर्थः। तदन्नाभिप्रायं मत्वा स लोकपालसंघातः कार्यकारणलक्षणः पिण्डः प्रथमजत्वाद[2]न्यांश्चान्नादानपश्यंस्तदन्नं वाचा वदनव्यापारेणाजिघृक्षद्ग्रहीतुमैच्छत्तदन्नं

शब्दादिभोक्तृत्वमिन्द्रियदेवतोपाधिकं न स्वत आत्मन इत्यभिप्रायेण [3]तेषा शब्दादिभोगमुक्त्वेदानीमन्नपानभोक्तृत्वमप्यपानवृत्तिमत्प्राणोपाधिकं न स्वत आत्मन इत्यभिप्रायेण तस्याभोक्तृत्वं परिशेषान्निर्धारयितुमाह — तदेनदिति। सृष्टं तत्पराङ्सदत्यजिघांसदित्यन्वयः। पराङ्पदं व्युत्पादयति — परागञ्चतीति। उक्तार्थे दृष्टान्तमाह — यथेति। मत्वेत्यनन्तरं पराङ्ङ्चति तद्वदिति शेषः। अतिगन्तुमैच्छदिति। यद्यपि व्रीह्याद्यचेतनान्नस्य नैवमिच्छा संभवति तथाऽपि भोक्तृशरीरान्तर्न प्रविष्टं किंतु बहिरेव स्थितमित्यत्र तात्पर्यम्। कार्यकारणलक्षणः पिण्डस्तदन्नं वाचाऽजिघृक्षदित्यन्वयः। नन्विदानीमिव प्रथममेवापानेनैवान्नजिघृक्षा तस्य किमिति नाऽऽसीदित्याशङ्क्य तस्येदानींतनशरीरापेक्षया प्रथमजत्वात्तदानीं चापानेनान्नादत्वस्यानिश्चयात्तस्य वागादिनाऽन्नजिघृक्षा युक्तेत्याह — प्रथमजत्वादिति। अस्मदाद्यपेक्षयेत्यर्थः। यस्मिन्प्रतिष्ठिता अन्नमदामेत्युपक्रान्तस्य व्यष्टिशरीरस्य समष्टिपिण्डापेक्षया प्रथमजत्वाभावादपश्यन्नजानन्नित्यर्थः। वदनक्रियया प्रथमजस्य पिण्डस्य

देखी गयी है। वैसे ही सर्वेश्वर होने के कारण परमेश्वर की भी सबके ऊपर निग्रह और अनुग्रह करने की स्वतन्त्रता ही है।।१।।

अन्न की सृष्टि

अन्न सृष्टि की इच्छा वाले उस ईश्वर ने उन पूर्वोक्त जलों को ही उद्देश्य करके तप किया। उन उपादानरूप अभितप्त जलों से ही धारण करने में समर्थ चराचररूप घनीभूत मूर्ति उत्पन्न हुई। निःसन्देह यह जो मूर्ति उत्पन्न हुई है, वह मूर्तिरूप अन्न ही है।।२।।

भागते हुए अन्न को ग्रहण करने का प्रयत्न

लोक और लोकपालों के निमित्त उनके सामने रचा हुआ अन्न (भागना चाहा) जैसे बिलाव आदि के सामने से चूहे आदि भागना चाहते हैं, वैसे ही उन अन्न भक्षण करने वालों को 'यह मेरी मौत है' ऐसा मानकर उसकी ओर से मुख मोड़ कर उनका अतिक्रमण करना चाहा अर्थात् अन्न ने

---

१. अग्रहैष्यदिति च्छान्दसी वृद्धिः, लोके त्वग्रहीष्यदिति दीर्घ एवं साधुर्ग्रहोऽलिटि दीर्घ इति सूत्रात्। २. अन्यांश्चान्नादानिति — वागतिरिक्तान्नादनसाधनानीति यावत्। ३. तेषां सदेवतेन्द्रियाणामित्यर्थः

तत्प्राणेनाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोत्प्राणेन ग्रहीतुं स यद्धैन-
त्प्राणेनाग्रहैष्यदभिप्राण्य हैवान्नमत्रप्स्यत्।।४।।
तच्चक्षुषाऽजिघृक्षत्तन्नाशक्नोच्चक्षुषा ग्रहीतुं स यद्धैन-
च्चक्षुषाऽग्रहैष्यद्दृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत्।।५।।

फिर उस पुरुष ने अन्न को प्राणनक्रिया से पकड़ना चाहा, किन्तु इसे प्राण से पकड़ न सका। यदि (उस समय) इस अन्न को प्राण से पकड़ लिया होता (तो इस समय भी पुरुष) अन्न के उद्देश्य से प्राणनक्रिया करके ही तृप्त हो जाता।।५।।

उस पुरुष ने इसे नेत्र से ग्रहण करना चाहा, पर नत्रे से ग्रहण करने में वह समर्थ न हुआ। यदि (उस समय) वह अन्न को नेत्र से ग्रहण कर लिया होता तो (इस समय भी पुरुष) अन्न को देखकर ही तृप्त हो जाता।।५।।

नाशक्नोन्न समर्थोऽभवद्वाचा वदनक्रियया ग्रहीतुमुपादातुम्। स प्रथमजः शरीरी यद्यदि हैनद्वाचाऽग्रहैष्यद्गृहीतवान्स्यात्सर्वोऽपि लोकस्तत्कार्यभूतत्वादन्नमभिव्याहृत्य हैवान्न-मत्रप्स्यत्तृप्तोऽभविष्यत्। न चैतदस्त्यतो नाशक्नोद्वाचा ग्रहीतुमित्यवगच्छामः पूर्वजोऽपि। समानमुत्तरम्।।३।।

तत्प्राणेन तच्चक्षुषा तच्छ्रोत्रेण तत्त्वचा तन्मनसा तच्छिश्नेन तेन तेन करण-

---

कारणस्यान्नग्रहणासामर्थ्यं कार्यगतासामर्थ्येन द्रढयति – स प्रथमज इति। अत्र प्रथममन्नपदं गृहीत-वान्स्यादित्यत्र कर्मत्वेन संबध्यते। तत्कार्यभूतत्वादिति। तदनन्तरभूतत्वादित्यर्थः। इदानींतनशरीरस्य पूर्वकालीनव्यष्टिशरीरकार्यत्वाभावादिति। अभिव्याहृत्येति। वाचकशब्देनाभिधायेत्यर्थः। पूर्वजोऽपीत्यस्य नाशक्नोदिति पूर्वेणान्वयः।।३।।

प्राणेन घ्राणेनाभिप्राण्याऽऽघ्रायेत्यर्थः। अपानेनेति। मुखच्छिद्रेणान्तर्गच्छता वायुनेत्यर्थः।

अन्न भक्षण करने वाले के सामने से दौड़ना प्रारम्भ कर दिया। अन्न के उस अभिप्राय को जानकर उस लोक और लोकपालों के देह इन्द्रियरूप संघात पिण्ड ने प्रथम उत्पन्न होने के कारणदूसरे अन्न भोक्ताओं को न देखकर उस अन्न को बोलने की क्रियारूप वाणी से ग्रहण करना चाहा किन्तु वह वदन क्रिया से उस अन्न को ग्रहण करने में समर्थ न हुआ। यदि सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ वह देहधारी (उस समय) इस अन्न को वाणी से ग्रहण कर लेता तो उसका कार्यभूत होने के कारण सम्पूर्ण लोक (आज) अन्न को बोल कर ही तृप्त हो जाया करता किन्तु बात ऐसी नहीं है। अतः हमें जान पड़ता है कि वह प्रथम उत्पन्न विराड् पुरुष भी उस अन्न को वाणी से ग्रहण करने में समर्थ नहीं हुआ था। आगे प्रसंग भी इसी के समान है।।३।।

अपान द्वारा अन्न का ग्रहण

(इसी प्रकार उस प्रथम उत्पन्न विराड् पुरुष ने) उस अन्न को प्राण से, नेत्र से, श्रोत्र से,

तच्छ्रोत्रेणजिघृक्षत्तन्नाशक्नोच्छ्रोत्रेण ग्रहीतुं स
यद्धैनच्छ्रोत्रेणाग्रहैष्यच्छ्रुत्वा हैवान्नमत्रप्स्यत्।।६।।
तत्त्वचाऽजिघृक्षत्तन्नाशक्नोत्त्वचा ग्रहीतुं स यद्धैनत्त्व-
चाऽग्रहैष्यत्स्पृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत्।।७।।
तन्मनसाऽजिघृक्षत्तन्नाशक्नोन्मनसा ग्रहीतुं स यद्धैन-
न्मनसाऽग्रहैष्यद्ध्यात्वा हैवान्नमत्रप्स्यत्।।८।।
तच्छिश्नेनाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोच्छिश्नेन ग्रहीतुं स
यद्धैनच्छिश्नेनाग्रहैष्यद्विसृज्य हैवान्नमत्रप्स्यत्।।९।।

पुरुष ने इसे श्रोत्र से पकड़ना चाहा, किन्तु वह श्रोत्र व्यापार से ग्रहण न कर सका। यदि वह इसे श्रोत्र से ग्रहण कर लिया होता तो (इस समय भी पुरुष) अन्न को कानों से सुन कर ही तृप्त हो जाता।।६।।

पुरुष ने उसे त्वचा से ग्रहण करना चाहा, किन्तु वह त्वचा से इसे ग्रहण न कर सका। यदि वह इसे त्वचा से ग्रहण कर लिया होता तो (इस समय भी पुरुष) अन्न को त्वचा से स्पर्श करके ही तृप्त हो जाता।।७।।

उस पुरुष ने अन्न को मन से ग्रहण करना चाहा किन्तु वह मन से ग्रहण न कर सका। यदि उस समय वह अन्न को मन से ग्रहण कर लेता तो (इस समय भी पुरुष) अन्न का मन से ध्यान करके ही तृप्त हो जाया करता।।८।।

उसने इस अन्न को शिश्न से ग्रहण करना चाहा किन्तु वह शिश्न से ग्रहण न कर सका। यदि वह (इस समय) इस अन्न को शिश्न से ग्रहण कर लिया होता तो (इस समय भी पुरुष) अन्न का विसर्ग करके ही तृप्त हो जाता।।९।।

व्यापारेणान्नं ग्रहीतुमशक्नुवन्पश्चादपानेन वायुना मुखच्छिद्रेण तदन्नमजिघृक्षत्तदावयत्त-दन्नमेवं जग्राहाशितवान्। तेन स एषोऽपानवायुरन्नस्य ग्रहोऽन्नग्राहक इत्येतत्। यद्वायुर्यो

अन्नात्तृत्वमपि श्वसनवृत्तिमतः प्राणस्य धर्मो नाऽऽत्मनः स्वत इत्येतत्तदेनत्सृष्टं पराङित्यादिनोक्त-संदर्भस्य प्रयोजनमुपसंहरति – तेन स एष इति। येन कारणेनापानेनान्नमशितवांस्तेनेत्यर्थः। अपान-वृत्तिमतः प्राणस्यान्नग्राहकत्वं प्रसिद्ध्या दृढीकर्तुमन्नायुरिति वाक्यं व्याचष्टे – अन्नायुरिति। अन्नं-

---

त्वचा से, मन से, शिश्न से एवं विभिन्न इन्द्रियों के व्यापार से ग्रहण करने में असमर्थ होकर अन्त में मुखान्तर्वर्ती अपान वायु से ग्रहण करने की इच्छा की। इस प्रकार उस अन्न को विराड् पुरुष ने पकड़ लिया। उसी कारण से वह अपान वायु अन्न ग्रहण करने वाला अन्न का ग्रह माना गया

**तदपानेनाजिघृक्षत्तदावयत्सैषोन्नस्य ग्रहो यद्वा-
युरन्नायुर्वा एष यद्वायुः ।।१०।।
स ईक्षत कथं न्विदं मदृते स्यादिति स ईक्षत कतरेण
प्रपद्या इति स ईक्षत यदि वाचाऽभिव्याहृतं यदि**

(इसी प्रकार उसने) इसे अपान से ग्रहण करना चाहा और अन्न को ग्रहण कर भी लिया। वह यह (अपान वायु) ही अन्न ग्रहण करने वाला है। जो वायु अन्न द्वारा जीवनवाला प्रसिद्ध है, वह अपान वायु ही है ।।१०।।

उस परमेश्वर ने विचार किया यह (लोक, लोकपालों के संघातरूप पिण्ड) मेरे बिना कैसे रह सकेगा? उसने विचार किया मैं किस मार्ग से इस शरीर में प्रवेश करूँ। उसने पुनः विचारा

वायुरन्नायुरन्नबन्धनोऽन्नजीवनो वै प्रसिद्धं स एष यो वायुः ।।४-१०।।

स एवं लोकलोकपालसंघातस्थितिमन्ननिमित्तां कृत्वा पुरपौरतत्पालयितृस्थिति-समां स्वामीवेक्षत। कथं नु केन प्रकारेणेति वितर्कयन्निदं मदृते मामन्तरेण पुरस्वा-मिनम्। यदिदं कार्यकारणसंघातकार्यं वक्ष्यमाणं कथं नु खलु मामन्तरेण स्यात्परार्थं

दामेत्यादि[१]श्रुत्यन्तरे प्राणस्यान्नायुष्ट्वं प्रसिद्धमित्यर्थः।।४-१०।।

एवं भोगाधिकरणभूतानां लोकानां भोगायतनस्य समष्टिव्यष्टिशरीरस्य भोगोपकरणानां वागादीनां समष्टिशरीरे लोकपालत्वेन व्यष्टिशरीरे करणाधिष्ठातृत्वेन च स्थितानां देवतानां भोगे प्रेरकयो-रशनायापिपासयोस्तत्प्रयुक्तस्य करणनिष्ठस्य शब्दादिविषयग्रहणलक्षणस्य भोगस्यापानवृत्तिमत्प्राण-निष्ठस्यान्नपानग्रहणलक्षणस्य च भोगस्याऽऽत्मनः संसारित्वसिद्ध्यर्थं सृष्टिमभिधायेदानीं संसारिणं भोक्तारं दर्शयितुं स्रष्टुरीश्वरस्य विचारं दर्शयितुं स ईक्षतेतिवाक्य तद्व्याचष्टे – स एवमिति। पुरस्य पौराणां पुरवासिनां तत्पालयितॄणां राजनियुक्ताधिकारिणां स्थितिसमां तत्तुल्यामन्ननिमित्तामन्नाधीनां संघातस्थितिं कृत्वेत्यन्वयः। कृत्वेत्युपलक्षणं लोकादीन्सृष्ट्वेत्यपि द्रष्टव्यम्। पदार्थानुक्त्वा वाक्यार्थमाह – यदिदमिति। वक्ष्यमाणमिति। वाचाऽभिव्याहृतमित्यादिना वक्ष्यमाणमभिव्याहरणादिकमित्यर्थः।

है । जो वायु अन्नरूप बन्धन वाला अर्थात् अन्नरूप जीवन वाला प्रसिद्ध है, वह यह अन्नायु अपान वायु ही तो है।।४-१०।।

परमेश्वर का शरीर में प्रविष्ट होने का विचार

उस परमेश्वर ने नगर निवासी और उनके रक्षक की नियुक्ति के समान अन्नरूप निमित्त वाली लोक और लोकपालों के संघात की स्थिति करने के पश्चात् नगर के स्वामी की भाँति विचार किया। किस प्रकार से? ऐसा वितर्क करते हुए उसने सोचा यह जो आगे कहे जाने वाला कार्य और करणों के संघात का व्यापार है वह दूसरों के लिये होने के कारण नगर के स्वामी रूप मेरे बिना

---

१. श्रुत्यन्तरे बृ० २ अ० २ ब्रा० योहवै शिशुं् ससाधानं स प्रत्याधानं सस्थूणं सदामं वेदेत्यादि श्रुतावित्यर्थः। तत्र हि मध्यमः प्राण एव शिशुत्वेन वर्णित उपास्त्यर्थः तत्स्थितिहेतुत्वादन्नस्य तद्बन्धनरज्जुत्वमन्नं दामेत्यनेनोक्त-मित्यवधेयम्।

प्राणेनाभिप्राणितं यदि चक्षुषा दृष्टं यदि श्रोत्रेण श्रुतं यदि त्वचा स्पृष्टं यदि मनसा ध्यातं यद्यपानेनाभ्यपानितं यदि शिश्नेन विसृष्टमथ कोऽहमिति।।११।।

(मेरे बिना भी) यदि वाणी से बोल लिया जाय, यदि प्राण से प्राणन किया जाय, यदि त्वचा से स्पर्श कर लिया जाय, यदि मन से ध्यान कर लिया जाय, यदि अपान से खा लिया जाय और यदि शिश्न से विसर्जन कर लिया जाय तो फिर मैं कौन रह गया (अर्थात् मेरे बिना उक्त सभी व्यापार हो जाने पर मेरा कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। किन्तु राजा के बिना जैसे नगर का कार्य नहीं होता, वैसे ही मेरी प्रेरणा के बिना उक्त व्यापार का होना असंभव है)।।११।।

सत्। यदि वाचाऽभिव्याहृतमित्यादि केवलमेव वाग्व्यवहरणादि तन्निरर्थकं न कथंचन भवेद्बलिस्तुत्यात्यादिवत्। पौरबन्द्यादिभिः प्रयुज्यमानं स्वाम्यर्थं सत्तत्स्वामिनमन्तरेणासत्येव स्वामिनि तद्वत्। तस्मान्मया परेण स्वामिनाऽधिष्ठात्रा कृताकृतफलसाक्षिभूतेन भोक्त्रा

हेतुगर्भितमिदंशब्दार्थस्य विशेषणम् — परार्थं सदिति। परार्थत्वात्परमर्थिनं मामृते कथं स्यादि[१]त्यस्यैवार्थस्य कथंशब्दसूचितं [२]व्यतिरेकमाह — यदीति। केवलं भोक्तृ रहितव्यऽवहरणादि यत्तन्न कथंचन भवेत्कथंचिदपि न भवेदित्यन्वयः। तत्र हेतुः — निरर्थकमिति। अर्थयत इत्यर्थः पचाद्यजर्थयिता पुरुषस्तद्रहितमित्यर्थः। अर्थयिता हि पुरुषः स्वस्य प्रयोजनसिद्ध्यर्थं वागादिकं प्रेरयति। तदभावे प्रेरकाभावाद्वाग्व्यवहारादिकं न भवेदित्यर्थः। यद्वाऽर्थः प्रयोजनमर्थिनोऽभावे [३]तस्यार्थत्वाभावान्निष्प्रयोजनं सत्तन्न भवेत्प्रयोजनप्रयुक्तत्वात्सर्वप्रवृत्तेरिति। तत्र दृष्टान्तः — बलिस्तुत्यादिवदिति। एतदेव विवृणोति — पौरेति। अत्र यथाशब्दो द्रष्टव्यः। यथा पौरादिभिः प्रयुज्यमानं बलिस्तुत्यादिकं स्वामिनमन्तरेण न भवेत्तद्वदित्यन्वयः। स्वामिनमन्तरेणेति। अस्य व्याख्यानमस्त्येवेति। विचारस्य फलमाह — तस्मादिति। परेणार्थादन्येन स्वामिनाऽर्थिना वागादिव्यवहारकृतोपकारभाजाऽधिष्ठात्रा वागादिप्रेरकेण अधिष्ठातृत्वं चायस्कान्तवच्चेतनस्य संनिधानमात्रमेव साक्षितया न व्यापार इत्याह — कृतेति। कृताकृतयोस्तत्फलस्य चेत्यर्थः। फलसाक्षित्वमेव भोक्तृत्वमपीत्याह — भोक्त्रेति। राज्ञे[४]त्यस्येतिपदाध्याहारेणेक्षतेति पूर्वेणान्वयः। एवं वाग्व्यवहरणादिकार्यसिद्ध्यर्थं मया प्रवेष्टव्यमित्युक्त्वाऽऽत्मस्वरूप-

---

कैसे रह सकेगा। जिस प्रकार अपने स्वामी के लिये पुरवासी और बन्दीजनों आदि के द्वारा समर्पित की गयी बलि एवं स्तुति आदि स्वामी के बिना निरर्थक ही है उसी प्रकार मेरे बिना भी यह जो वाणी से बोलना आदि केवल वाग्व्यवहारादि है वह निरर्थक ही होगा अर्थात् किसी भी प्रकार न हो सकेगा। अतः नगर के राजा के समान इस देहरूप संघात के परम प्रभु और अधिष्ठाता मुझे भी इसके पाप-

---

१. इत्यस्यैवार्थस्येति — अनिश्चितप्रकारेण मदृते भवनस्येत्यर्थः। २. व्यतिरेकम् अभावम्। संभावितमिति शेषः। ३. तस्येत्यादि वाग्व्यवहारादिकस्य प्रयोजनत्वाभावात् तन्निष्प्रयोजनं निष्प्रयोजनमित्यस्य प्रयोजनाभावोऽर्थः। अर्थाभावेऽव्ययीभावः ततः स्वार्थेकः व्याख्येयपदे — इति गुरवः तस्य प्रयोजनस्य अर्थ्यमानत्वाभावात्तन्निष्प्रयोजनं निष्फलमित्यन्ये। ४. इत्यस्य इत्यन्तस्येत्यर्थः।

भवितव्यं पुरस्येव राज्ञा। यदि नामैतत्संहतकार्यस्य परार्थत्वं परमाऽर्थिनं मां चेतनमन्तरेण भवेत्पुरपौरकार्यमिव तत्स्वामिनम्। अथ कोऽहं किंस्वरूपः कस्य वा स्वामी। यद्यहं कार्यकारणसंघातमनुप्रविश्य वागाद्यभिव्याहृतादिफलं नोपलभेय राजेव पुरमाविश्याधिकृतपुरुषकृताकृतावेक्षणम्, न कश्चिन्मामयं सन्नेवंरूपश्चेत्यधिगच्छेद्विचारयेत्। विपर्यये तु योऽयं वागाद्यभिव्याहृतादीदमिति वेद स सन्वेदनरूपश्चेत्यधिगन्तव्योऽहं स्याम्। यदर्थमिदं संहतानां वागादीनामभिव्याहृतादि। यथा स्तम्भकुड्यादीनां प्रासादादीनां च

बोधार्थं च मया प्रवेष्टव्यमिति वक्तुं स ईक्षत यदि वाचाऽभिव्याहृतमित्याद्यथ कोऽहमित्यन्तं वाक्यं तत्प्रवेशप्रयोजनकथनार्थत्वेन कथं न्विदमितिवाक्यतुल्यत्वात्स ईक्षत कतरेणेतिवाक्येन व्यवहितमपीहैवाऽऽकृष्य व्याचष्टे – यदि नामेति। संहतस्य वागादिलक्षणस्य कार्यस्य परार्थत्वं परोपकाररूपाभिव्याहरणादिकारित्वं परमार्थिनमुपकारभाजनमन्तरेण भवेदित्यर्थः। अनेन यदि वाचैव केवलयाऽभिव्याहृतं भवेदित्येवकाराध्याहारेण वाक्यं योजितम्। एवमुत्तरत्रापि यदि प्राणेनैवाभिप्राणितं भवेदित्यादि द्रष्टव्यम्। अभिप्राणितमाघ्रातमभ्यपानितमन्तर्गतं भक्षितमित्यर्थः। उक्तमेव वाक्यार्थं स्पष्टी करोति – यद्यहमित्यादिना। अयं सन्निति। अयमात्माऽस्ति स चैवंरूपश्चेति नाधिगच्छेदित्यर्थः। अप्रवेशे स्वस्याधिगमो न स्यादित्युक्त्वा प्रवेशे तु सोऽस्तीति प्रवेशफलमाह – विपर्यये त्विति। प्रविश्याभिव्याहृताद्युपलम्भे त्वित्यर्थः। वेदनरूपः संश्चेत्यधिगन्तव्योऽहं स्यामित्यन्वयः। वेदनरूपत्वमुपपादयति – योऽयमिति। योऽयं वागाद्यभिव्याहृतादि वेद स वेदनरूप इत्यधिगन्तव्यः स्यामित्यन्वयः। न च वेदितुः कथं वेदनरूपत्वमिति वाच्यम्। वेदितुरवेदनरूपत्वे तस्य वेदनान्तरकर्मत्वं वाच्यम्। तस्मिन्वेदने वेदितैव कर्ता चेदेकस्मिन्वेदितरि कर्तृत्वं कर्मत्वं च विरुद्धं प्रसज्येत। अन्यो वेदिता कर्ता चेत्तस्याप्यन्यो वेदितेत्यनवस्था स्यादिति वेदितुर्वेदनरूपत्वं सिध्यति। अत एव श्रुत्यन्तरे यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मेति घ्रातृघ्रेयघ्राणवेदनस्याऽऽत्मत्वमुक्तमिति भावः। तस्य वेदनरूपत्वे प्रमाणमुक्त्वाऽस्तित्वे प्रमाणमाह – यदर्थमिति। संहतानां वागादीनामभिव्याहृतादि यदर्थं सोऽन्यो वागादिभिरसंहतः संश्चेत्यधिगन्तव्य इति पूर्वेणान्वयः। संहतानामसंहतपरार्थत्वे दृष्टान्तमाह – यथेति। एतदुक्तं भवति-वागाद्यभिव्याहृतादि स्वासंहतपरार्थं भवितुमर्हति संहतत्वात्कुड्यादिवत्प्रा-

---

पुण्य जनित फल के साक्षी और भोक्तारूप से स्थित होना चाहिए। यदि इस देह इन्द्रिय संघात का कार्य दूसरे के लिये है और वह पुर स्वामी के बिना पुर और पुरवासियों के कार्य की भाँति मुझ परमार्थी अपने रक्षक चेतन के बिना हो सकता है तो फिर मैं क्या रह गया अर्थात् किस स्वरूप वाला या किसका स्वामी मैं रह गया। जैसे नगर में प्रवेश कर वहाँ के अधिकारी पुरुषों के कार्याकार्य का निरीक्षण राजा करता है, वैसे ही मैं भी इस कार्यकारण संघात में प्रवेश कर वागादि के उच्चारणादि फल को ग्रहण न करूँगा तो कोई मेरे सम्बन्ध में "वह सत् है और ऐसा स्वरूप वाला है" इस प्रकार विचार नहीं कर पायेगा। इसके विपरीत अवस्था मैं इस प्रकार जाना जा सकता हूँ। जैसे स्तम्भ और भित्ति आदि से मिलकर बने हुए मन्दिर आदि संघात अपने अवयवों के सहित किसी अन्य या किसी दूसरे असंघात पदार्थ के लिये होते हैं; ठीक वैसे ही जिसके लिये इन संघातरूप वाणी आदि के उच्चारणादि व्यापार हैं और जो वाणी आदि के इन उच्चारणादि व्यापार को प्रत्यक्षरूप

स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत। सैषा विदृतिर्नाम द्वास्तदेतन्नान्दनम्। तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्ना अयमावसथोऽयमावसथोऽय-मावसथ इति।।१२।।

वह सृष्टिकर्ता ईश्वर इस मूर्धा को विदीर्ण कर इस मार्ग से ही संघात में प्रविष्ट हो गया। वह यह द्वार विदृति नाम से प्रसिद्ध है वह आनन्दप्रद है। उसके तीन वासस्थान हैं और तीन ही स्वप्न हैं। (जाग्रत् में) यही नेत्रस्थान वाला है, स्वप्न में यह कण्ठस्थान वाला है और सुषुप्ति में यह हृदयस्थान वाला है।।१२।।

संहतानां स्वावयवैरसंहतपरार्थत्वं तद्वदिति। एवमीक्षित्वाऽतः कतरेण प्रपद्या इति। [1]प्रपदं च मूर्धा चास्य संघातस्य प्रवेशमार्गावनयोः कतरेण मार्गेणेदं कार्यकरणसंघातलक्षणं पुरं प्रपद्यै प्रपद्येयमिति (द्येयेति)।।११।।

एवमीक्षित्वा न तावन्मद्भृत्यस्य प्राणस्य मम सर्वार्थाधिकृतस्य प्रवेशमार्गेण प्रपदाभ्यामधः प्रपद्ये। किं तर्हि पारिशेष्यादस्य मूर्धानं विदार्य [3]प्रपद्येयमिति लोक इवेक्षितकारी स स्रष्टेश्वर एतमेव मूर्धसीमानं केशविभागा-

---

सादादिवच्चेति। तद्वदित्यनन्तरं श्रुतिगतं स ईक्षतेति पदं द्रष्टव्यम्। भाष्ये तु स्पष्टतया त्यक्तम्। प्रयोजनद्वयवशात्प्रवेशस्य कर्तव्यत्वे सिद्धे प्रवेशद्वारविचारस्यावसर इतीदानीं स ईक्षत कतरेणेतिवाक्यं व्याचष्टे — एवमीक्षित्वेति। अत इति। यतः प्रवेशस्य वागादिव्यवहारसिद्धिर्मत्स्वरूपबोधश्चेतिप्रयो-जनद्वयसिद्ध्यर्थं कर्तव्यत्वमत इत्यर्थः। अन्तरितिपाठे शरीरस्यान्तः प्रपद्या इत्यन्वयः। कतरेणेतिपदं गृहीत्वा तद्व्याख्यातुं मार्गद्वयं दर्शयति — प्रपदं चेति। इदानीं गृहीतं पदं व्याख्याति — अनयोः कतरेणेति। प्रपद्या इत्यनन्तरं श्रौतं स ईक्षतेति पदं द्रष्टव्यम्।।११।।

अनन्तरं स ईक्षत यदि वाचेत्यादिवाक्यं पूर्वमेव व्याख्यातमिति तदुत्तरं स एतमेव सीमानमिति वाक्यं व्याख्यातुं तदपेक्षितमाह — एवमीक्षित्वेति। पर्यालोच्येत्यर्थः। भृत्यस्य प्रवेशमार्गेण स्वामिनः प्रवेशोऽनुचित इत्यनेनैव मार्गेण प्रवेशं निश्चितवानित्याह — न तावदिति। अस्येति। पिण्डस्येत्यर्थः। प्रपद्येयमित्यनन्तरं निश्चित्येति शेषः। एवमपेक्षितमुक्त्वा स एतमिति वाक्यं व्याचष्टे-

---

से जानता है, वही मैं सत् और चेतन स्वरूप हूँ। इस प्रकार विचारकर पुनः उसने सोचा कि अब मैं किस द्वार से प्रवेश करूँ? इस संघात में प्रवेश करने के पादाग्र और मूर्धा ऐसे दो मार्ग हैं, इन दोनों में से किस मार्ग द्वारा इस कार्यकरणसंघातरूप पुर में मैं प्रवेश करूँ।।१२।।

मूर्धा द्वार से परमेश्वर का शरीर में प्रवेश

इस प्रकार विचार कर परमेश्वर ने निश्चय किया कि मैं सम्पूर्ण कार्यों के अधिकारी अपने सेवक प्राणप्रवेश मार्ग अधस्तनीय चरणों से प्रवेश तो करूँगा ही नहीं तो फिर किससे प्रवेश करूँगा? अतः उसके परिशेष मूर्धा को ही विदीर्णकर मैं प्रवेश करूँगा। इस प्रकार सोच-विचार कर

---

१. प्रपदमिति पादाग्र प्रपदमित्यमरः। २. मद्भृत्यस्य प्राणस्येति — तथा चोक्तमत्र दीपिकायाम्। पूर्वं प्रपदाभ्यां प्रापद्यतेत्यत्र प्राणरूपक्रियाशक्त्युपाधिकस्य पादाग्रे प्रवेशोऽभिहित इति। ३. प्रपद्येयमित्यात्मने पदस्यानित्यत्वमा-श्रित्योक्तम्।

वसानं विदार्य च्छिद्रं कृत्वैतया द्वारा मार्गेणेमं कार्यकरणसंघातं प्रापद्यत प्रविवेश।

सेयं हि प्रसिद्धा द्वाः। मूर्ध्नि तैलादिधारणकाले तद्रसादिसंवेदनात्। सैषा विदृतिर्विदारितत्वाद्विदृतिर्नाम प्रसिद्धा द्वाः। इतराणि तु श्रोत्रादिद्वाराणि भृत्यादिस्थानीयसाधारणमार्गत्वान्न समृद्धीनि नाऽऽनन्दहेतूनि। इदं तु द्वारं परमेश्वरस्यैव केवलस्येति। तदेतन्नान्दनं नन्दनमेव नान्दनमिति दैर्घ्यं छान्दसम्। नन्दत्यनेन द्वारेण गत्वा परस्मिन्ब्रह्मणीति।

तस्यैवं सृष्ट्वा प्रविष्टस्य जीवेनाऽऽत्मना राज्ञ इव पुरं त्रय आवस्थाः। जागरितकाल

इति लोक इवेति। एवमीक्षित्वा मूर्धानं विदार्य प्रपद्येयमिति निश्चित्येमं संघातं प्रापद्यतेत्यन्वयः।

ननु नव वै पुरुषे प्राणाः सप्त वै शीर्षण्यःप्राणां द्वाववाञ्चौ नवद्वारे पुरे देहीत्यादिषु द्वारनवकं प्रसिद्धं न तु मूर्धनि द्वारान्तरमित्याशङ्क्य प्रत्यक्षतस्तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेतीतिश्रुतितश्च तस्य द्वारस्य प्रसिद्धेर्नैवमिति वक्तुं सैषेति वाक्यं तद्व्याचष्टे —सेयमिति। प्रत्यक्षतः प्रसिद्धिं सैषेति पदाभ्यां दर्शयति — मूर्ध्नीति। मूर्धनि चिरं [1]विषवृक्षतैलादिधारणकाले तिक्तादितद्रससंवदेनं दृश्यत इति सा द्वाः प्रत्यक्षतः प्रसिद्धेत्यर्थः। न केवलं द्वारः प्रत्यक्षत एव प्रसिद्धिः किंतु तस्या विदृतिरितिनाम्नाऽपिप्रसिद्धिरित्याह — विदृतिरिति। अनेनेश्वरेण स्वप्रवेशार्थमसाधारणतया विदारितत्वान्न भृत्यस्थानीयचक्षुरादिप्रवेशद्वारैः सह नव वै पुरुषे प्राणा इत्यादिपूर्वोक्तश्रुतिषु परिगणितमित्युक्तम्। श्रौतप्रसिद्धिं वक्तुं तदेतन्नान्दनमिति वाक्यं तत्रैतदेव नान्दनं नान्यानीत्युक्तमिति कृत्वा व्याचष्टे — इतराणि त्विति। समृद्धीनीति। सम्यगृद्धिरानन्दो येषु तानीति विग्रहः। हेतुशब्दं भावप्रधानं स्वीकृत्याऽऽनन्दं प्रति हेतुत्वं येषामिति बहुव्रीहिणा हेतूनीति नपुंसकत्वं द्रष्टव्यम्। नन्दत्यनेन द्वारेण गत्वेति। अनेन तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेतीतिश्रुतौ प्रसिद्धिर्दर्शिता।

ईश्वरस्यैवं प्रवेशमुक्त्वा तस्य पूर्वोक्तकार्यकारणसंघातोपाधिकं संसारमाह — तस्येति। एवं पुरं सृष्ट्वा जीवेनाऽऽत्मना प्रविष्टस्य तस्य राज्ञ इव त्रय आवसथाः क्रीडास्थानानीत्यन्वयः।

काम करने वाले लोगों की भाँति वह सृष्टिकर्ता ईश्वर इस मूर्धा सीमा को ही विदीर्ण कर उसी के द्वारा इस कार्य-करण संघातरूप लोक में प्रवेश कर गया है।

जहाँ केशों के विभाग का अवसान होता है। उसी को मूर्धा कहते हैं, वही प्रसिद्ध द्वार है क्योंकि शिर में तैल आदि धारण करते समय भीतर उसके रसादि का अनुभव होता है। विदीर्ण किये जाने के कारण वह द्वार विदृति नाम से प्रसिद्ध है किन्तु इससे भिन्न जो श्रोत्रादि द्वार हैं वे भृत्यादिरूप साधारण मार्ग होने के कारण आनन्द के हेतु नहीं हैं पर यह मूर्धा मार्ग तो केवल परमात्मा का ही है। अतः आनन्दप्रद है। यहाँ पर नन्दन को ही नान्दन कहा गया है। नान्दनम् इस पद के आदि अकार वैदिक प्रक्रिया के अनुसार दीर्घ किया गया है। इसी मार्ग से परब्रह्म में जाकर उपासक आनन्द प्राप्त करता है।

पुर में प्रविष्ट हुए राजा की भाँति इस प्रकार सृष्टि करके उसमें जीवभाव से प्रविष्ट हुए उस

---

१. विषवृक्षोऽर्कादिस्तदीयबीजतैलाद्यपि संभवति।

इन्द्रियस्थानं दक्षिणं चक्षुः। स्वप्नकालेऽन्तर्मनः। सुषुप्तिकाले हृदयाकाश इत्येतद्वक्ष्यमाणा वा त्रय आवसथाः। पितृशरीरं मातृगर्भाशयः। स्वं च शरीरमिति। त्रयः स्वप्ना जाग्रत्स्वप्न-सुषुप्त्याख्याः। ननु जागरितं प्रबोधरूपत्वान्न स्वप्नः। नैवम्। स्वप्न एव। कथं परमार्थस्वात्मप्रबोधाभावात्स्वप्नवदसद्वस्तुदर्शनाच्च। अयमेवाऽऽवसथश्चक्षुर्दक्षिणं प्रथमः। मनोऽन्तरं द्वितीयः। हृदयाकाशस्तृतीयः। अयमावसथ इत्युक्तानुकीर्तनमेव तेषु ह्ययमावसथेषु पर्यायेणाऽऽत्मभावेन वर्तमानोऽविद्यया दीर्घकालं गाढं प्रसुप्तः स्वाभाविक्या

तान्येवाऽऽह — जागरितेति। चक्षुरिति। चक्षुर्गोलकमित्यर्थः। मन इति। मनसोऽधिकरणं कण्ठस्थान-मित्यर्थः। [1]कण्ठे स्वप्नं समादिशेदितिश्रुतेः। हृदयाकाश इति। हृदयावच्छिन्नभूताकाश इत्यर्थः। यद्यपि ब्रह्मण्येव सुषुप्तौ जीवो वर्तते सता सोम्य तदा संपन्न इति श्रुतेस्तथाऽपि ब्रह्मणोऽपि हृदयावकाशेऽवस्थानात्तत्संपन्नोऽपि तत्रैव वर्तत इति तथोक्तम्। अन्यथा हृदयाकाशशब्देनैव [2]दहराधि-करणन्यायेन ब्रह्माभिधाने तस्य त्रयः स्वप्ना इति वक्ष्यमाणस्वप्नतुल्यत्वानुपपत्तेरित्यत एव पक्षान्तरमाह — वक्ष्यमाणा वेति। तानेवाऽऽह — पितृशरीरमिति। नन्वात्मा वा इदमेक एवेत्यद्वितीयत्वे-नोक्तस्य कथमावसथयोग इत्याशङ्क्याऽऽवसथानां मृषात्वान्न पारमार्थिकाऽद्वितीयत्वायोग इति वक्तुं त्रयः स्वप्ना इत्युक्तं तद्व्याचष्टे — त्रयः स्वप्ना इति। स्वप्नतुल्या इत्यर्थः। जाग्रदित्युपलक्षणं पित्रादिशरीरत्रयं चेत्यपि द्रष्टव्यम्। तेषां स्वप्नतुल्यत्वं नास्तीति शङ्कते — नन्विति। अत्रापि शरीरत्रय-मित्युपलक्षितं तत्प्रबोधस्य स्वप्नप्रबोधतुल्यत्वात्स्वप्नत्वमेवेत्याह — नैवमिति। तथा प्रसिद्धिर्नास्तीति शङ्कते — कथमिति। अविवेकिनां तथा प्रसिद्ध्यभावेऽपि विवेकिनां तल्लक्षणं जागरितमपि तथा-भूतमेव ब्रह्मस्वरूपतिरोधानादविद्यमानजगत्प्रतीतेश्चेत्यर्थः। [4]अन्तरं यन्मनस्तद्द्वितीय आवसथ इत्यन्वयः। अयमावसथ इत्यादिनाऽर्थान्तरं नोच्यते। प्रासादभूमिकावदुपर्यधोभावेन स्थिता एव चक्षुरादयोऽङ्गुल्या निर्दिश्य प्रदर्श्यन्ते बाह्यावसथभ्रान्तिवारणायेत्याह — अयमावसथ इत्युक्तानुकीर्तनमेवेति। नन्वावसथ-शब्दस्य गृहविशेषवाचिनः कथमक्ष्यादिषु प्रयोग इत्याशङ्क्याऽऽवसथस्थस्येवैषु स्थितस्य दीर्घनिद्रा-दर्शनात्तेषु सुखं सुप्तस्येव शीघ्रप्रबोधा दर्शनाद्गौण्या वृत्त्याऽऽवसथत्वमाह — तेषु ह्ययमिति।

ईश्वर की तीन आवसथ हैं प्रथम जाग्रत् काल में इन्द्रियों का स्थान दक्षिण नेत्र है। द्वितीय स्वप्नकाल में मन के भीतर है और तृतीय सुषुप्ति काल में हृदयाकाश के अन्तर्गत है अथवा आगे कहे जाने वाले पिता का शरीर, माता का गर्भाशय और अपना ही शरीर बस ये ही तीन आवसथ हैं। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति नामक तीन स्वप्न हैं। शंकाः-प्रबोधरूप होने के कारण जाग्रत् को स्वप्न कहना ठीक नहीं? ऐसी बात नहीं है, वह भी स्वप्न ही है। कैसे? क्योंकि परमार्थ आत्मस्वरूप के बोध का अभाव जब होता है और स्वप्न के तुल्य असद् वस्तु दीख पड़ती है, उस समय यह दक्षिण नेत्र ही प्रथम है।

---

१. दीपिकायां समग्रेयं श्रुतिः। २. दहर उत्तरेभ्यः।।१।३।१४।। ३. वस्तुतत्त्वेति — नहि जाग्रतः स्वप्नो नाम संभवतीति विदुषोऽपि द्वैताभासोपलम्भो मा भूत्स्वप्न इति प्रथमदलम्। सुषुप्तावतिव्याप्तिवारणायासद्वस्तुप्रतिभास इति। प्रतिभा-सश्चैन्द्रियिक एव ग्राह्यः। तेन सुषुप्तावविद्याभानेऽपि न क्षतिः परं त्रयः स्वप्ना इति मूलविरुद्धमेतत् ततो बाध्यत्वमात्रमेवमूलानुगुणं स्वप्नत्वमित्यवधेयम्। ४. अन्तरमिति–कण्ठान्तर्गतमित्यर्थः।

स जातो भूतान्यभिव्यैख्यत्किमिहान्यं वावदिष-
दिति। स एवमेव पुरुषं ब्रह्म ततममपश्यदिदमदर्श-
मि'तीꣳ३ ।।१३।।

(जीवभाव से इस शरीर में प्रविष्ट होकर) उत्पन्न हुए उस परमेश्वर ने भूतों को (तादात्म्य-रूप से) ग्रहण किया और (गुरुकृपा से बोध होने पर मुझसे भिन्न) यहाँ दूसरा कौन है, ऐसा कहा और मैंने इस आत्मदेव को देख लिया है। इस प्रकार उसने इस पुरुष को ही पूर्ण ब्रह्मरूप से देखा।।१३।।

नप्रबुध्यतेऽनेकशतसहस्रानर्थसंनिपातजदुःखमुद्गराभिघातानुभवैरपि।।१२।।

स जातः शरीरे प्रविष्टो जीवात्मना भूतान्यभिव्यैख्यद्व्याकरोत्।

स कदाचित्परमकारुणिकेनाऽऽचार्येणाऽऽत्मज्ञानप्रबोधकृच्छब्दिकायां वेदान्तमहा-

---

स्वाभाविक्याऽऽविद्ययेत्यन्वयः। अनुभवैरित्यनन्तरमित्येत आवसथा उच्यन्त इति शेषः।।१२।।

ननु जागरितादिकं भूतकार्यस्य कार्यकरणसंघातस्य धर्मो न त्वा²त्मनः तद्भिन्नस्यापि तस्मिंस्तादात्म्याभिमानात्तद्धर्मवत्त्वमिति वक्तुं स जात इति वाक्यं तद्व्याचष्टे — स जात इति। भूतान्येवाऽऽभिमुख्येन तादात्म्येन व्याकरोद्व्यक्तं ज्ञातवानुक्तवांश्च मनुष्योऽहं काणोऽहं सुख्यहमित्यादिप्रकारेणेत्यर्थः। तथा च श्रुत्यन्तरम् — "अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" इति। ननु व्यतिरिक्तात्मज्ञाने सति कथमुक्ततादात्म्यभ्रम इत्याशङ्क्याऽऽह श्रुतिः — किमिहान्यमिति। इहास्मिञ्शरीरेऽन्यं व्यतिरिक्तमात्मानं वावदिषत्किमिति काक्वा नोक्तवानित्यर्थः। न ज्ञातकानित्यपि द्रष्टव्यम्। इतिशब्दो यस्मादित्यर्थे यस्मादेवं तस्मादभिव्यैख्यदित्यध्यारोपप्रकरण-समाप्त्यर्थो वा। इदं वाक्यं भाष्यकारैः स्पष्टत्वादुपेक्षितं लेखकदोषात्पतितं वा।

एवमध्यारोपं प्रदर्श्य तस्यापवादार्थं स एतमित्यादिवाक्यं तद्व्याचष्टे — स कदाचिदित्यादिना। यद्वा स जात इत्यादिरपवादस्तस्मिन्पक्ष एवं योजना। भूतानि व्याकरोद्विविच्याकरोत्। किमेषां स्वतः सत्ताऽस्ति नेति विचारितवानित्यर्थः। विचार्य च किमन्यमात्मव्यतिरिक्तं स्वतःसत्ताकं वावदिषद्व-दिष्यामि न किंचिदप्यात्मव्यतिरिक्तं वक्तुं शक्नोमीति निश्चितवानित्यर्थः। एवं पदार्थशोधनवतो वाक्यार्थज्ञानमाह — स इति। आचार्यवान्पुरुषो वेदेतिश्रुतेस्तेन विना स्वतो वाक्यार्थज्ञानं न संभवतीत्य-भिप्रेत्याऽऽह — परमेति। वेदांन्तेति। उपनिषत्काण्डस्य समुदायस्य भेरीस्थानत्वं तद्गतानां तत्त्वम-

---

मन के भीतर का भाग द्वितीय है और हृदयाकाश तृतीय आवसथ है। "अयमावसथः" ऐसा जो तीन बार कहा है, वह पूर्व कथित का ही अनुकीर्तन है। उन आवसथों में क्रमशः आत्मभाव से गाढ सुषुप्ति में पड़ा रहता है और अनेकों शत सहस्र अनर्थों की प्राप्ति से होने वाले दुःखरूप मुद्गरों के आघात का अनुभव करते हुए भी जागता नहीं है।।१२।।

---

१. इतीꣳ इत्यणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिक इत्यनुनासिकत्वम्। क्वचिल्लिखितपुस्तके त्वनुनासिकरेखा नोपलभ्यते। २. आत्मन इति — तद्भिन्नस्येत्याशङ्क्येति शेषः।

तस्मादिदन्द्रो नामेदन्द्रो ह वै नाम तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण। परोक्षप्रिया इव हि देवाः

इसीलिए उस परमेश्वर का "इदन्द्र" नाम पड़ा, लोक में ईश्वर "इदन्द्र" नाम से प्रसिद्ध है। इदन्द्र होते हुए भी उसे ब्रह्मवेत्ता पुरुष परोक्ष रूप से इन्द्र कहकर पुकारते हैं क्योंकि देवता लोग

भेर्यां तत्कर्णमूले ताड्यमानायामेतमेव सृष्ट्यादिकर्तृत्वेन प्रकृतं पुरुषं पुरि शयानमात्मानं ब्रह्म बृहत्ततमं तकारेणैकेन लुप्तेन तततमं व्याप्ततमं परपूर्णमाकाशवत्प्रत्यबुध्यतापश्यत्। कथम्। इदं ब्रह्म ममाऽऽत्मनः स्वरूपमदर्शं दृष्टवानस्मि। अहो इति विचारणार्था प्लुतिः।।१३।।

यस्मादिदमित्येवं यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म सर्वान्तरमपश्यदपरोक्षेण तस्मादि'दं

सीत्यादिवाक्यानां प्रबोधजनकशब्दत्वमिति ज्ञेयम्। पुरि शयानामिति। मूर्धन्यया द्वारा प्रविश्येति शेषः। लुप्तेनेति। तेन सहेत्यर्थः। किं परोक्षतया ज्ञातमिति पृच्छति – कथमिति। तस्य कृतार्थताप्रख्यापकेन वाक्येन तस्यापरोक्षत्वमाह – इदमिति। इती३ इतिप्लुतेरर्थमाह – अहो इति। विचारणार्था प्लुतिः पूर्वमिति विचारणार्थे प्लुते'र्विहितत्वात्। 'प्लुत्या सम्यग्ब्रह्म ज्ञातं न वेति विचार्य सम्यग्ज्ञातमिति निश्चित्याहो इति स्वस्य कृतार्थत्वं प्रख्यापितवानित्यर्थः।।१३।।

तस्येदन्द्रनामप्रसिद्ध्याऽपि तस्य ज्ञानस्यापरोक्षत्वमिति वक्तुं तस्मादिदन्द्र इति वाक्यं तद्व्याचष्टे – यस्मादिति। तस्मात्सर्वान्तरं ब्रह्मेदं नित्यमेवापरोक्षेण प्रत्यगात्मेत्येवमपश्यदित्यन्वयः।

जीव के मोह की निवृत्ति

उत्पन्न होकर अर्थात् जीवभाव से शरीर में प्रवेश कर उस परमेश्वर ने भूतों को व्याकृत किया।

फिर किसी समय दयालु आचार्य द्वारा अपने कर्णमूल में दृढ़ता से आत्मज्ञान कराने वाला वेदान्त वाक्यरूप महाभेरी के बजाये जाने पर आकाश के समान परिपूर्ण महान् ब्रह्मरूप से उसे साक्षात्कार किया जिसका सृष्टि आदि के कर्तृत्वरूप से प्रकरण चल रहा है उसी शरीर रूप पुर में शयन करने वाले आत्मा को ब्रह्मरूप से साक्षात्कार किया। 'ततम्' इस पद में एक तकार का लोप हो गया है। अतः आकाश के समान परिपूर्ण ब्रह्मरूप से अपने को ही जाना ब्रह्मरूप से देखा है, इस प्रकार से जाना। यहाँ पर "इती ३" इस पद में जो प्लुत का उच्चारण है, वह विचार प्रदर्शित करने के लिए है।।१३।।

इन्द्र शब्द की व्युत्पत्ति

क्योंकि जो जीवरूप से सबके भीतर रहने वाला है उसी ब्रह्म को "इदम्" इस प्रकार साक्षात्

---

१. इदं पश्यतीत्रि – सकलमिदंतया (अपरोक्षतया) पश्यति जानातीति सर्वज्ञ इत्यर्थः। दीपिकायां तु इदं दृष्टमित्येवं कर्मपरतया व्युत्पादितम्। २. विहितत्वाद् विचार्यमाणानामिति सूत्रेणेति भावः। ३. पूर्वमित्यस्य पूर्वान्वयित्वभ्रान्त्या व्याचष्टे – प्लुत्येत्यादिना। वस्तुतस्तु पूर्वं यस्मादित्येवमुत्तरान्वयित्वमेव पूर्वमित्यस्य।

परोक्षप्रिया इव हि देवाः।।१४।।

इत्यैतरेयोपनिषद्यात्मषट्के तृतीयः खण्डः।।३।।

उपनिषत्क्रमेण प्रथमाध्याये तृतीयः खण्डः।।३।।

इत्यैतरेयोपनिषदि प्रथमोऽध्यायः।।१।।

परोक्षप्रिय होते हैं (द्विरुक्ति अध्याय समाप्ति सूचक के लिए है) ।।१४।।

।।इति प्रथमाध्यायः, तृतीयखण्डः।।

पश्यतीतीदन्द्रो नाम परमात्मा। इदन्द्रो ह वै नाम प्रसिद्धो लोक ईश्वरः। तमेवमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इति परोक्षेण परोक्षाभिधानेनाऽऽचक्षते ब्रह्मविदः संव्यवहारार्थं पूज्यतमत्वात्प्रत्यक्षनामग्रहणभयात्।

तथा हि परोक्षप्रियाः परोक्षनामग्रहणप्रिया इव ह्येव हि यस्माद्देवाः। किमु सर्वदेवानामपि देवो महेश्वरः। द्विर्वचन प्रकृताध्यायपरिसमाप्त्यर्थम्।।१४।।

इत्यैतरेयोपनिषद्भाष्ये प्रथमाध्याये तृतीयः खण्डः।।३।।

इति श्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवत्कृतावैतरेयोपनिषद्भाष्ये प्रथमोऽध्यायः।।१।।

कथमिदन्द्रनामत्वमत आह — इदन्द्रो ह वा इति। नन्विन्द्रो मायाभिरित्यादाविन्द्र इति प्रसिद्धो न त्विदन्द्र इत्यत आह — तमेवमिति। इदन्द्रस्यैव सतः परोक्षत्वार्थमक्षरलोपेनेन्द्र इत्याहुरित्यर्थः। परोक्षोक्तेः प्रयोजनमाह — पूज्येति।

पूज्यानां परोक्षतयैव नाम वक्तव्यमित्यत्र प्रमाणमाह — तथा हीति। देवा इति। पूज्या इत्यर्थः। अत एवाऽऽचार्या उपाध्याया इत्युक्तावेव प्रीतिं कुर्वन्ति लोके न तु विष्णुमित्रादिनामग्रहण इति भावः। नाम्नः परोक्षत्वं नाम यथार्थनाम्नो रूपान्तरकरणेन स्वरूपाच्छादनमिति ज्ञेयम्।।१४।।

इत्यैतरेयोपनिषद्भाष्यटीकायां प्रथमाध्याये तृतीयः खण्डः।।३।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञानविरचिते ऐतरेयोपनिषद्भाष्यटीकायां प्रथमोऽध्यायः।।१।।

अपरोक्षरूप से ही देखा था परोक्षरूप से नहीं। इसीलिए इसे जो देखता है, वह परमात्मा इदन्द्रनाम वाला है। लोक में इदन्द्र नाम से ईश्वर प्रसिद्ध है। इस प्रकार इदन्द्र होने पर भी व्यवहार के लिये ब्रह्मवेत्ता पुरुष उसे "इन्द्र" इस परोक्ष नाम से पुकारते हैं क्योंकि पूज्यतम होने के कारण उसके प्रत्यक्ष नाम लेने में उन्हें भय है।

जब देवता लोग भी परोक्ष प्रिय हैं अर्थात् परोक्ष नाम ग्रहण करना ही उन्हें प्रिय है तो भला सम्पूर्ण देवताओं के देव महेश्वर का तो कल्पना ही क्या है। प्रकृत अध्याय की परिसमाप्ति के लिये यहाँ पर अन्तिम वाक्य को दो बार कहा गया है।।१४।।

अथ द्वितीयोऽध्यायः।

(आरण्यकक्रमेण पञ्चमोऽध्यायः)

तत्र प्रथमः खण्डः

अस्मिंश्चतुर्थेऽध्याय एष वाक्यार्थो जगदुत्पत्तिस्थितिप्रलयकृदसंसारी सर्वज्ञः सर्वशक्तिः सर्ववित्सर्वमिदं जगत्स्वतोऽन्यद्वस्त्वन्तरमनुपादायैवाऽऽकाशादिक्रमेण सृष्ट्वा स्वात्मबोधार्थं सर्वाणि च प्राणादिमच्छरीराणि स्वयं प्रविवेश प्रविश्य च स्वमात्मानं [1]यथाभूतमिदं ब्रह्मास्मीति साक्षात्प्रत्यबुध्यत। तस्मात्स एव सर्वशरीरेष्वेक एवाऽऽत्मा नान्य इति। अन्योऽपि "सम आत्मा" "ब्रह्मास्मि" इत्येवं विद्यात्"इति (बृ. १-४-१०) 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र

अस्मिन्नध्याय आत्मैकत्वलोकलोकपालसृष्ट्यशनायापिपासासंयोजनादीनां बहूनामर्थाना-मुक्तत्वात्सर्वेषामपि विवक्षितत्वशङ्कावारणाय विवक्षितमर्थमाह – अस्मिन्निति। सर्वेष्वपि शरीरेष्वेक एवाऽऽत्मा स एव परमेश्वर इति वक्ष्यमाणोऽर्थ एतच्छब्दार्थः। वाक्यार्थ इति। विवक्षित इति शेषः। कथमयमेवार्थो विवक्षित इत्याशङ्क्य पूर्वसंदर्भपर्यालोचनयेत्याह – जगदित्यादिना। यद्यपि लोकादि-सृष्ट्याऽन्नसृष्ट्या चोत्पत्तिस्थिती एवोक्ते तथाऽप्युत्पत्तिस्थित्युक्त्याऽर्थात्प्रलयोऽप्युक्तप्राय इति प्रलय-कृदित्युक्तं लोकपालादीनामेव भोक्तृत्वोक्त्याऽसंसारीत्युक्तमित्यर्थः। सामान्यतः सर्वं जानातीति सर्वज्ञः। विशेषतः सर्वप्रकारेणापि सर्वं वेत्तीति सर्ववित्। सृष्ट्वेत्यन्तेन जगतस्तत्कार्यत्वात्तद्व्यतिरेकेण नास्तीत्युक्त्वा प्रत्यगात्मनस्[2]तदभेदमाह – स्वात्मेति। न केवलं प्रवेशोक्त्यैव तदभेदः किं तु तदभेदज्ञानोक्तेश्चेत्याह – प्रविश्य चेति। यस्मात्सर्वशरीरेष्वेकस्यैव प्रवेश उक्तः। यस्माच्च प्रविष्टस्य ब्रह्मतया ज्ञानमुक्तं तस्मात्सर्वशरीरेष्वेक एवाऽऽत्मा स च सर्वज्ञ ईश्वर एव नान्य इत्येष वाक्यार्थो विवक्षित इति पूर्वेणान्वयः। सम आत्मेति विद्यादितिसंहितोपनिषद्गतवाक्यशेषोऽप्येतमेवार्थमाहेत्याह – अन्योऽपीति। सम इति। सर्वभूतेष्वेक इत्यर्थः। स ईक्षतेत्यादिसंदर्भादयमर्थः प्रतीयत इत्युक्तं पूर्वमिदानीमुपक्रमोपसंहाराभ्यामप्येष एवार्थः प्रतीयत इत्याह – आत्मा वा इति। सदेव सोम्येदमग्र

सम्बन्ध भाष्य

इस पूर्वोक्त चतुर्थ अध्याय में यह वाक्यार्थ विवक्षित है। जगत् की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय करने वाले असंसारी सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमेश्वर ने अपने से भिन्न किसी वस्तु को ग्रहण किये बिना ही आकाशादि क्रम से इस सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि कर अपने को स्वयं ही जानने के लिए प्राणादि से युक्त सभी शरीरों में स्वयं ही प्रवेश किया और प्रवेशकर "मैं ब्रह्म हूँ" इस प्रकार अपने यथार्थ स्वरूप को प्रत्यक्षरूप से जाना। अतः सभी शरीरों में एकमात्र वही आत्मा है, उससे भिन्न कुछ भी नहीं है। (इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण भूतों में) "जो सम आत्मा ब्रह्म है, वह मैं हूँ" ऐसा जाने "निःसन्देह पहले एक आत्मा था" "(उसने आकाश की भाँति) अतिशय व्याप्त ब्रह्म को जाना" ऐसा भी कहा है। ऐसा

---

१. यथाभूतमिति शोधितं त्वमर्थं चिन्मात्रमिति यावत्। २. तदभेदम् – स्रष्टीश्वरतत्त्वाभेदमित्यर्थः।

आसीत्' इति ब्रह्म ततममिति चोक्तम्। अन्यत्र च। सर्वगतस्य सर्वात्मनो बालाग्रमात्रमप्यप्रविष्टं नास्तीति कथं सीमानं विदार्य प्रापद्यत पिपीलिकेव सुषिरम्।

नन्वत्यल्पमिदं चोद्यं बहु चात्र चोदितव्यम्। अकरणः सन्नीक्षिताऽनुपादाय किंचिल्लोकानसृजताद्भ्यः पुरुषं समुद्धृत्यामूर्छयत्। तस्याभिध्यानान्मुखादि निर्भिन्नं मुखादिभ्यश्चाग्न्यादयो लोकपालास्तेषां चाशनायापिपासादिसंयोजनं तदायतनप्रार्थनं तदर्थं गवादिप्रदर्शनं तेषां यथायतनप्रवेशनं सृष्टस्यान्नस्य पलायनं वागादिभिस्तज्जिघृक्षा। एतत्सर्वं सीमाविदारणप्रवेशसममेव। अस्तु तर्हि सर्वमेवेदमनुपपन्नम्। न। अत्राऽऽत्माव-

आसीत्तदेतद्ब्रह्मापूर्वमित्यादौ चाद्वितीयत्वमुक्तमित्याह — अन्यत्र चेति। प्रवेशवाक्यादात्मन एकत्वमुक्तं, तदयुक्तं तस्यैवासंगतार्थत्वादिति शङ्कते — सर्वगतस्येति। अशरीरत्वाद्विदारयितृत्वं सर्वगतत्वात्प्रवेशश्च न संगच्छत इत्यर्थः।

किं प्रतीयमानार्थेऽसंगतत्वमुत विवक्षितार्थे। आद्ये सर्वस्याप्यसंगतार्थत्वेन सर्वस्याप्य-प्रामाण्यं स्यात्। न च वेदस्य तद्युक्तमित्यभिप्रेत्याऽऽह — नन्विति। चक्षुरादिकरणैरीक्षणं प्रसिद्धं मृदाद्युपादानवत एव स्रष्टृत्वं हस्ताभ्यामेव समुद्धरणसमूर्छने इत्यशरीरस्य तदसंगतम्। शस्त्रादिना मूर्तेन विदारणं न त्वमूर्ताद्ध्यानान्मुखादिभ्योऽग्न्याद्युत्पत्तौ तस्य दाहादिः स्यात्। मूर्तस्यैवान्येन संयोजनं कर्तुं शक्यं नाशनायादेरमूर्तस्य। अग्न्यादीनां शरीरसृष्टेः पूर्वं प्रार्थनाया आयोगस्तदा गवादिशरीराभावात्। स्वयं चाशरीरत्वादानयनायोगः। तेषामशरीरत्वादमूर्तत्वात्प्रवेशानुपपत्तिः। अन्न-स्याचेतनस्य पलायनानुपपत्तिः। वागादीनां हस्तादिवद्वस्त्वादानासामर्थ्यात्तैर्जिघृक्षानुपपत्तिरिति सर्वमसंगतार्थमित्यर्थः। तर्हि सर्वमप्रमाणमस्त्विति कश्चिच्छङ्कते — अस्त्विति। विवक्षितार्थेऽपि विषं भुङ्क्ष्व स प्रजापतिरात्मनो वपामुदखिददित्यादीनामिव प्रामाण्यसंभवेनाप्रामाण्यं न कस्यचिदपि युक्तम्। विवक्षितार्थे च नासंगतिरिति द्वितीयं दूषयति — नेति। लोके स्वयमेव द्वारं कृत्वाऽनेकेषु गृहेषु प्रविष्टस्य देवदत्तस्यैकत्वदर्शनात्तद्वदात्मन एकत्वमिति बोधयितुं विदारणप्रवेशने उच्येते न तु सोऽर्थो विवक्षितः। विवक्षितात्मैकत्वबोधद्वारतयोक्तत्वात्प्राशस्त्यार्थद्वारतयोक्तवपोत्खननादिवदर्थ-

ही अन्य उपनिषदों में भी कहा गया है। **पूर्वपक्ष :-** सर्वव्यापक सर्वात्मा के लिए तो बाल का अग्रभाग भी अप्रविष्ट नहीं है (अर्थात् वह सर्वत्र व्यापक है) फिर यह चींटी के छिद्र में प्रवेश करने की भाँति मूर्ध सीमा को विदीर्ण कर भला किस प्रकार मनुष्य शरीर में प्रविष्ट होगा।

सिद्धान्ती :- आप का यह प्रश्न अतिअल्प है। अभी तो उपर्युक्त प्रसंग में बहुत कुछ पूछना चाहिए। उसने इन्द्रिय हीन होकर भी ईक्षण किया। किसी उपादान कारण के विना ही लोकों की सृष्टि की, जल में से पुरुष निकाल कर उसे अवयव योजना द्वारा पुष्ट किया, अभिध्यान करने से उसमें मुखादि निकल आये और मुखादि से अग्नि आदि लोकपाल प्रकट हुए। भूख-प्यास के साथ उनका सम्बन्ध जोड़ना आयतन के लिये उनके द्वारा प्रार्थना उन देवताओं के लिये गौ आदि को दिखलाना उन देवताओं का अपने-अपने अनुकूल स्थानों में प्रवेश करना, उत्पन्न हुए अन्न का भागना और उसे वागादि इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करने की इच्छा करना; ये सभी बातें सीमा विदीर्ण करने और शरीर में प्रवेश करने की भाँति ही आश्चर्यजनक हैं। **पूर्वपक्ष :-** तब तो उन

बोधार्थमात्रस्य विवक्षितत्वात्सर्वोऽयमर्थवाद इत्यदोषः। मायाविवद्वा महामायावी देवः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः सर्वमेतच्चकार सुखावबोधनप्रतिपत्त्यर्थं लोकवदाख्यायिकादिप्रपञ्च इति युक्ततरः पक्षः। न हि सृष्ट्याख्यायिकादिपरिज्ञानात्किंचित्फलमिष्यते। ऐकात्म्यस्वरूपपरिज्ञानात्त्वमृतत्वं फलं सर्वोपनिषत्प्रसिद्धम्। स्मृतिषु च गीताद्यासु "समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्' (गी. १३-२७) इत्यादिना।

वाद इत्यर्थः। असत एव प्रवेशादेरिहोक्तिरित्यङ्गीकृत्य तस्य गुणार्थवादत्वं वपोत्खननादिवाक्यवदित्युक्त्वा[1]ऽग्निर्हिमस्य भेषजमित्यादिवद्भूतार्थवादत्वमङ्गीकृत्याऽऽह — मायावीति। माययाऽघटितमपि सर्वमुपपद्यतेऽघटितघटकत्वात्तस्या इत्यर्थः। अनेन सृष्ट्यादेरघटितार्थत्वाद्गन्धर्वनगरादिवन्मृषात्वमेवेति स्पष्टीकर्तुमघटितमपि सृष्ट्यादिकं श्रुत्या दर्शितमित्युक्तम्। नन्वात्मावबोधश्चेद्विवक्षितस्तर्हि [2]साक्षादेव स उच्यतां किम[3]नेन वृथा प्रपञ्चनेनेत्यत आह — सुखेति। अवबोधनं प्रतिपादनं सुखेन वक्तुः प्रतिपादनार्थं सुखेन श्रोतुः प्रतिपत्त्यर्थं चेत्यर्थः। ननु लोकसृष्ट्यादेर्मानान्तरागोचरत्वेनापूर्वत्वा[4]त्तत्परत्वमेवाऽऽख्यायिकाया अस्त्वित्याशङ्क्यापूर्वत्वेऽपि तत्प्रतिपत्त्या फलालाभात्फलवत्यज्ञाते श्रुतेस्तात्पर्यनियमात्। अन्यथा [5]रुद्ररोदनादेरप्यपूर्वत्वेन तत्रापि तात्पर्यापत्तेर्न सृष्ट्यादौ तात्पर्यमित्याह — न हीति। आत्मप्रतिपत्तौ तु फलदर्शनात्तत्परत्वमेव युक्तमित्याह — ऐकात्म्येति। सर्वेति। एतावदरे खल्वमृतत्वं तमेवं विद्वानमृत इह भवति, विद्वानमृतः समभवदित्यादिषु ज्ञानादमृतत्वं प्रसिद्धमित्यर्थः। समं सर्वेषु [6]भूतेष्वित्यनेनैकात्म्यमुक्त्वा समं पश्यन्हि [7]सर्वत्र न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानमिति ज्ञानादमृतत्वमुक्तमित्याह — स्मृतिषु चेति। यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुत इत्यादिरादिशब्दार्थः।

"[8]सोऽहं स च त्वं स च सर्वमेतदात्मस्वरूपं त्यज भेदमोहम्।
इतीरितस्तेन स राजवर्यस्तत्याज भेदं परमार्थदृष्टिः"।।

इत्यैकात्म्यमुक्त्वा,

"[9]स चापि जातिस्मरणाप्तबोधस्तत्रैव जन्मन्यपवर्गमाप"

इत्यादिविष्णुपुराणाद्यशब्दार्थः।

सभी बातों को असंगत मान लेना चाहिए। सिद्धान्ती :- ऐसी बात नहीं है क्योंकि श्रुति को यहाँ पर आत्मा का बोध कराना मात्र अभीष्ट होने से यह सब बात अर्थवाद रूप है। इसलिये इसमें क़ोई दोष नहीं है। अथवा मायावी के समान महामायावी सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परमेश्वर ने इस सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि की। इस रहस्य का ज्ञान सरलता से कराने के लिये लोक की भाँति यह आख्यायिका रची गयी है। इस प्रकार यह पक्ष युक्तिसंगत सिद्ध होता है क्योंकि केवल लोक रचना की कथा आदि के परिज्ञान से कुछ भी फल नहीं मिलता किन्तु आत्मा के एकत्व यथार्थरूप के परिज्ञान से

१. अग्निर्हिमस्येत्यादिरनुवाद एवायं भूतार्थवादस्त्विन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छदित्यादिरूपस्तथाप्यबाधितार्थत्वमात्रेण भूतार्थत्वोक्तिरित्यवधेयम्। २. साक्षादिति — आख्यायिकामद्वारीकृत्येति यावत्। ३. अनेनाख्यायिकात्मना। ४. तत्परत्वमिति — तथा च न सृष्ट्यादेर्मृषात्वं त्वदिष्टं सिध्येदिति शङ्कितुराशयः। ५. रुद्रेत्यादि — सोऽरोदीदित्याद्युक्तेनेत्यर्थः। ६. भूतेष्विति — तिष्ठन्तं परमेश्वरम्। विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ।।१३।२७। इति शिष्टम्। ७. सर्वत्रेत्यनन्तरं च समवस्थिमीश्वरमिति द्वितीयः पादो द्रष्टव्यः। ततो याति परां गतिमिति तुरीयः।१३।२८। ८. सोऽहमित्यादि एकः समस्तं यदिहास्ति किंचित्तदच्युतो नास्ति परं तदन्यत् इति पूर्वार्धम्। रहूगणराजं प्रति जडभरतोक्तिरियम्। ९. स चापीत्यादि—इयं तु पराशरोक्तिः मैत्रेयाख्यशिष्यं प्रति।

ननु त्रय आत्मानो भोक्ता कर्ता संसारी जीव एकः सर्वलोकशास्त्रप्रसिद्धः। अनेकप्राणिकर्मफलोपभोगयोग्यानेकाधिष्ठानवल्लोकदेहनिर्माणेन लिङ्गेन यथाशास्त्रप्रदर्शितेन पुरप्रासादादिनिर्माणलिङ्गेन तद्विषयकौशलज्ञानवांस्तत्कर्ता तक्षादिरिवेश्वरः सर्वज्ञो जगतः कर्ता द्वितीयश्चेतन आत्माऽवगम्यते। "यतो वाचो निवर्तन्ते" (तै. २-९) 'नेति नेति' (बृ. ३-९-२६) इत्यादिशास्त्रप्रसिद्ध औपनिषदः पुरुषस्तृतीयः। एवमेते त्रय आत्मानोऽन्योन्यविलक्षणाः। तत्र कथमेक एवाऽऽत्माऽद्वितीयोऽसंसारीति ज्ञातुं शक्यते। तत्र जीव एव तावत्कथं ज्ञायते। नन्वेवं ज्ञायते श्रोता मन्ता द्रष्टाऽऽदेष्टाऽऽघोष्टा विज्ञाता प्रज्ञातेति।

आत्मैक्यमेवास्याध्यायस्यार्थ इत्युक्त्वैतदेव स्थिरीकर्तुमाशङ्कते — नन्विति। जीव ईश्वरो निर्विशेषब्रह्म चेति त्रय आत्मान इत्यर्थः तत्र जीवोऽहं कर्तेति लोक, एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा यजेत स्वर्गकाम इत्यादिशास्त्रे च प्रसिद्ध इत्याह — भोक्तेति। एक इति। त्रयाणां मध्य एक इत्यर्थः। यो लोकदेहनिर्माणेन लिङ्गेनावगम्यते सर्वज्ञ ईश्वरः स द्वितीय इत्याह — अनेकेति। अनेकेषां विचित्राणां प्राणिनां यान्यनेकानि विचित्राणि कर्मफलानि तदुपभोगयोग्यानि यान्यनेकानि विचित्राण्यधिष्ठानानि स्थानविशेषास्तद्वन्तो लोका देहाश्च, तेषां निर्माणेन लिङ्गेनेत्यर्थः। इदं विशेषणं कर्तुः सर्वज्ञतार्थम्। यथाशास्त्रप्रदर्शितेनेति। स इमाँल्लोकानसृजतेत्यादिशास्त्रप्रदर्शितलिङ्गेनेत्यर्थः। अनुमाने दृष्टान्तमाह — पुरेति। अचेतनं प्रधानं स्वयमेव विचित्रजगदाकारेण परिणमते न तु सर्वज्ञोऽधिष्ठाता कश्चिदिति सांख्याः, [1]तन्निरासायाऽऽह — चेतन इति। चेतनानधिष्ठितस्याचेतनस्य स्वतः प्रवृत्त्यदर्शनादवश्यं सर्वज्ञश्चेतनोऽधिष्ठाताऽङ्गीकार्यं इत्यर्थः। तृतीयमाह — यत इति। एकस्यैव रूपभेदेन भेद इत्याशङ्क्याऽऽह — एवमिति। अन्योन्येति। अन्योन्यविरुद्धधर्मवत्त्वाद्दहनतुहिनवद्भिन्ना इत्यर्थः। तत्र जीवस्य यत्कर्तृत्वाभोक्तृत्वादिना वैलक्षण्यमुक्तं तदसिद्धं [2]तस्य [3]मानान्तराविषयत्वेन तद्धर्मवत्तया प्रमातुमशक्यत्वादतो न भेद इत्यभिप्रायेण परिहरति सिद्धान्ती — तत्र जीव एवेति। कथमिति। तस्य ज्ञेयत्वाभावे कर्तृत्वादिधर्मविशिष्टतयाऽपि स ज्ञातुमशक्य इत्यर्थः। अविज्ञाताभिप्रायः प्रश्नप्रकारं मत्वा शङ्कते — नन्विति। आदेष्टा वर्णात्मकशब्दवक्ता आघोष्टा ध्वन्यात्मकशब्दवक्तेत्यर्थः।

मोक्षरूप फल प्राप्त होता है, यह सभी उपनिषदों में प्रसिद्ध है। वैसे ही "सम्पूर्ण भूतों में समभाव से स्थित परमेश्वर को (देखने वाला यथार्थ दर्शी है)" इत्यादि वाक्यों से गीतादि स्मृतियों में भी आत्म एकत्व परिज्ञान से मोक्षरूप फल प्रसिद्ध है।

आत्मा तीन हैं उनमें से एक सर्वलोक शास्त्र प्रसिद्ध कर्ता, भोक्ता, संसारी जीव है नगर और प्रासादादि के निर्माणरूप लिंग से जैसे उसके सम्बन्धी कौशल के ज्ञान से युक्त उनके रचयिता शिल्पकार आदि का निश्चय होता है उसी प्रकार अनेक प्राणियों के कर्म-फल के उपभोग योग्य अनेकों अधिष्ठान वाले लोक और देह की सृष्टि के शास्त्रोक्त लिंग से जीव से भिन्न चैतन्य जगत्-कर्ता सर्वज्ञ परमात्मा का भी निश्चय होता है और तीसरा आत्मा वह है "जहाँ से वाणी लौट आती है" "यह नहीं यह नहीं" इत्यादि शास्त्र से प्रसिद्ध उपनिषद् समधिगम्य पुरुष है। इस प्रकार ये तीनों आत्मा परस्पर

---

१. तन्निरासायेति — न तु जीवादेश्चेतनत्वव्यावृत्तय इति भावः। २. तस्य जीवस्य। ३. स्वप्रकाशत्वमभिप्रेत्याह— मानान्तरेति।

ननु विप्रतिषिद्धं ज्ञायते यः श्रवणादिकर्तृत्वेनामतोऽविज्ञात इति च। तथा "न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः" (बृ. ३-४-२) इत्यादि च। सत्यं विप्रतिषिद्धं यदि प्रत्यक्षेण ज्ञायेत सुखादिवत्। प्रत्यक्षज्ञानं च निवार्यते "न मतेर्मन्तारम्" इत्यादिना। ज्ञायते तु [1]श्रवणादिलिङ्गेन तत्र कुतो विप्रतिषेधः।

ननु श्रवणादिलिङ्गेनापि कथं ज्ञायते, यावता यदा शृणोत्यात्मा श्रोतव्यं शब्दं तदा तस्य श्रवणक्रिययैव वर्तमानत्वान्मननविज्ञानक्रिये न संभवत आत्मनि परत्र वा।

---

[2]पूर्ववाक्ये स एषोऽश्रुतोऽमतोऽविज्ञात इति विज्ञेयत्वस्य प्रतिषेधात्तस्मिंस्तद्विरुद्धं ज्ञेयत्वमित्याह — ननु विप्रतिषिद्धमिति। यः श्रवणादिकर्तृत्वेन ज्ञायते स एवामतोऽविज्ञातश्चेत्येतद्विप्रतिषिद्धमित्यन्वयः। श्रुत्यन्तरविप्रतिषिद्धं चेत्याह — तथा न मतेरिति। मतेर्मनोवृत्तेर्मन्तारं साक्षिणमित्यर्थः। आदिपदेनामतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञातेत्यादिसंग्रहः [3]श्रुत्योः प्रामाण्याविशेषा[4]द्विप्रतिषेधानुपपत्तेः[5]प्रत्यक्षेणाविज्ञेयत्वं लिङ्गेन विज्ञेयत्वं चोच्यते ताभ्यामिति शङ्कते पूर्ववादी — सत्यमिति।

आत्मनि युगपज्ज्ञानद्वयायोगाच्छ्रवणादिकाले मननविज्ञानयोरसंभवाच्छ्रवणादिना मननविज्ञानरूपमात्मविषयकमन्यविषयकं वाऽनुमितिज्ञानं न संभवतीत्याह सिद्धान्ती — ननु श्रवणादीति। श्रवणक्रिययैव सह वर्तमानत्वाच्छ्रवणक्रियाधारत्वादात्मनि विषये परविषये वा तस्य मननविज्ञानक्रिये न संभवत इत्यर्थः। अत्र प्रकरणे [6]मननविज्ञानशब्दाभ्यामनुमितिरुच्यत आत्मनस्तद्विषयत्वस्यैवेह शङ्कावादिनोक्तत्वादिति। तर्हि श्रवणमननयोर्युगपदसंभवेऽ[7]न्यविषयमननक्रिययाऽऽत्मा मन्तव्य इत्या-

---

विलक्षण हैं। ऐसी स्थिति में यह कैसे जाना जा सकता है कि आत्मा एक और अद्वितीय असंसारी है? सिद्धान्तीः- इन तीनों में पहले जीव ही किस प्रकार जाना जाता है? इस प्रकार जाना जाता है कि सुनने वाला, मनन करने वाला, देखने वाला, आज्ञा देने वाला, शब्द उच्चारण करने वाला, विशेष जानने वाला और सबसे अधिक बोलने वाला है।

सिद्धान्ती :- परन्तु जो श्रवणादि के कर्तारूप से जानने वाला, इस प्रकार कहना "बुद्धि के मनन करने वाले का मनन न करो, विज्ञाति के विज्ञाता को न जानो" इत्यादि श्रुति वचन भी विरुद्ध होगा। **पूर्वपक्ष :-** यदि उसे सुखादि की भाँति प्रत्यक्ष रूप से जाना जाय तो अवश्य विरुद्ध होगा किन्तु "बुद्धि के मनन करने वाले का मनन न करो" इत्यादि वाक्य से उसके प्रत्यक्ष ज्ञान का निषेध किया गया है। उसका ज्ञान तो श्रवणादि लिंग से होता है फिर इसमें विरोध कहाँ है?

सिद्धान्ती :- श्रवणादि लिंग से भी आत्मा का ज्ञान किस प्रकार से हो सकता है क्योंकि जब और जिस समय आत्मा श्रोतव्य शब्द को सुनता है, उस समय श्रवण क्रिया के साथ ही वर्तमान रहने के

---

१. श्रवणादिलिङ्गेनेति — श्रवणादिक्रिया सकर्तृका क्रियात्वादित्येवमाद्यनुमानेनेत्यर्थः। श्रवणादेः पक्षविधयाऽप्यनुमानाङ्गत्वमात्रेण लिङ्गत्वव्यवहार औपचारिक इति बोध्यम्। २. पूर्ववाक्ये ऐ० आ० ३। अ० २।कं ४ इत्यत्रेत्यर्थः। ३. श्रुत्योरिति — स एषोऽश्रुत इत्यादिरश्रुतत्वादिबोधिका श्रुतिरमतो मन्तेत्यादिश्च मन्तृत्वादिबोधिका तयोरित्यर्थः। ४. विरोधेऽन्यतरबाधापत्तेराह — विप्रतिषेधानुपपत्तेरिति। ५. भासमानं विरोध परिजिहीर्षन्नाह—प्रत्यक्षेणेत्यादि। ६. मननविज्ञानशब्दाभ्यामिति — अत्राद्येनानुमितिर्द्वितीयेन दृष्टान्तार्थं प्रत्यक्षान्तरमित्येव युक्तं वक्तुं द्वयेनैवानुमित्युक्तौ भाष्योक्तं द्विवचनमुपरुध्येतेत्यवधेयम्। ७. अन्यविषयेति— वह्न्यादिविषयकानुमितिक्रिययेत्यर्थः।

तथाऽन्यत्रापि मननादिक्रियासु श्रवणादिक्रियाश्च स्वविषयेष्वेव। न हि मन्तव्यादन्यत्र मन्तुर्मननक्रिया संभवति।

ननु मनसा सर्वमेव मन्तव्यम्। सत्यमेवं तथाऽपि सर्वमपि मन्तव्यं मन्तारमन्तरेण न मन्तुं शक्यम्। यद्येवं किं स्यादिदमत्र स्यात्। सर्वस्य यो मन्ता स

शङ्क्य विजातीयक्रियाद्वयवत्सजातीयक्रियाद्वयमपि युगपन्न संभवतीत्याह – तथेति। मननादिक्रियास्विति। मननादिक्रियान्तरमपि न संभवतीति शेषः। ननु मननादिक्रिया हि लिङ्गम्। न च लिङ्गं करणम[1]तीतलिङ्गेनाप्यनुमितिदर्शनात्। किंतु लिङ्गज्ञानं करणम्। [2]न च तस्याप्यनुमितिकाले सत्त्वनियमः। पूर्वक्षणसत्त्वमात्रेण करणत्वोपपत्तेरिति तयो[3]र्यौगपद्याभावेऽपि न दोष इति चेत्। [4]न। श्रवणमननादिलिङ्गविज्ञानस्य साक्षिरूपस्य [5]स्वतो विशेषाभावेन श्रवणादिनिरूपितत्ववशेनैव तस्यानुमापकत्वस्य वक्तव्यत्वेन [6]तत्सत्ताया अपि [7]तत्काले वक्तव्यत्वादिति भावः। ननु तर्हि बाह्यगोचरश्रवणादिक्रियया मन्तुरनुमानं मा भूत्। किंतु बाह्यगोचराश्रवणादिक्रियैवाऽऽत्मानमपि विषयीकरिष्यतीत्यत आह – श्रवणादिक्रियाश्चेति। स्वविषयगोचरा एव, न तु स्वाश्रयगोचरा इत्यर्थः। किंच न मतेर्मन्तारं मन्वीथा इत्यात्मनो मन्तव्यत्वनिषेधान्मन्तर्यात्मनि न मननक्रिया संभवतीत्याह – न हीति। अन्यत्रेति। आत्मनीत्यर्थः। कुठारादिक्रियाया दारुणोऽन्यत्र व्यापारादर्शनादित्यर्थः।

ननु मनसो वशे सर्वमिदं बभूवेतिश्रुतेः सर्वस्य मनोविषयत्वादात्मनोऽपि मन्तव्यत्वमेवेति शङ्कते – ननु मनसेति। एवमपि मनसः करणत्वात्क्रियायाश्च कर्तारमन्तराऽनुपपत्तेर्मन्ताऽवश्यमङ्गीकर्तव्य इति वदन्नाह सिद्धान्ती – सत्यमेवमिति। तथाऽपीति। न मन्वीथा इति विशेषश्रुत्या मन्तव्यत्वनिषेधाद[8]भ्युपगम्योच्यत इति सूचयत्यपिशब्दः। अस्तु मन्तुरावश्यकत्वं तावता तव किं स्यादिति शङ्कते – यद्येवमिति। एवं सत्यात्मनो मन्तव्यत्वाभावः सिध्यतीत्याह – इदमिति। कुत एतदिति चेत्तत्र वक्तव्यं किमात्मनो मनने स्वयमेव मन्तोतान्योवेति विकल्प्याऽऽद्यं दूषयति – सर्वस्येति। एकत्र

कारण उसके लिये अपने में या अन्यत्र मनन अथवा विज्ञानरूप क्रियायें सम्भव नहीं हैं। ऐसे ही अन्यत्र मननादि क्रियाओं में भी जानना चाहिये। श्रवणादि क्रियायें भी अपने विषयों में ही प्रवृत्त हो सकती हैं, आश्रय में नहीं। मनन करने वाले की मननरूप क्रिया मन्तव्य वस्तु से भिन्न स्थान में सम्भव नहीं है।

पूर्वपक्ष :- मन से सभी का मनन किया जाता है? **सिद्धान्ती**-यद्यपि यह बात ठीक है तथापि मनन कर्ता के बिना सभी मन्तव्य हो नहीं सकते। **पूर्वपक्षः**- यदि ऐसा मान भी लें तो इसका तात्पर्य

---

१. अतीतेति – अनेन करणस्य वर्तमानत्वमपेक्षितमिति सूच्यते। २. सूचितविरुद्धं वक्ति – न चेत्यादिना। ३. पूर्वज्ञानस्योत्तरज्ञाननाश्यत्वेनोत्तरोत्पत्तिक्षणे स्थित्यङ्गीकारादिदमपरं विरुद्धं – यौगपद्याभावेऽपीति। ४. भ्रान्तशङ्कायां भ्रान्तोत्तरमेव – न श्रवणेत्यादि। ५. सुषुप्त्यादौ साक्षिसत्त्वेन व्यभिचारं मनसि कृत्याहस्वतो विशेषेत्यादि। ६. तत्सत्ताया निरूपकश्रवणादिसत्तायाः। ७. तत्काले अनुमितिकाल इत्यर्थः। तथा च न च तस्याप्यनुमितिकाले सत्त्वनियम इत्युक्तमसम्यगेवेति भावः। वस्तुतस्तूत्तरनाश्यत्वादिप्रक्रियानभ्युपगमादेव न कथंचद्यौगपद्यं संभवीत्येवात्र विवक्षितमित्यवधेयम्। तदभ्युपगमे तु तादृशयौगपद्यस्य नान्तरीयकतयाऽनिष्टत्वाभावात्। ८. अभ्युपगम्येति–विशेषश्रुतिविरोधेन सामान्यश्रुतावात्मातिरिक्तमेव सर्वं मनसो वश इति संकोचसंभवादिति भावः।

मन्तैवेति न स मन्तव्यः स्यात्। न च द्वितीयो मन्तुर्मन्ताऽस्ति, यदा स आत्मनैव मन्तव्यस्तदा येन च मन्तव्य आत्माऽऽत्मना यश्च मन्तव्य आत्मा तौ द्वौ प्रसज्येयाताम्। एक एवाऽऽत्मा द्विधा मन्तृमन्तव्यत्वेन द्विशकलीभवेद्वंशादिवदुभयथाऽप्यनुपपत्तिरेव। यथा प्रदीपयोः प्रकाश्यप्रकाशकत्वानुपपत्तिः समत्वात्तद्वत्। न च मन्तुर्मन्तव्ये मननव्यापारशून्यः कालोऽस्त्यात्ममननाय। यदाऽपि लिङ्गेनाऽऽत्मानं मनुते मन्ता तदाऽपि

कर्तृकर्मभावस्य विरोधान्मन्तुर्मन्तव्यत्वं न संभवतीत्यर्थः। द्वितीये स मन्ताऽनात्माऽऽत्मा वेति विकल्प्याऽऽद्य आह — न चेति। द्वितीय इत्यन्तरमनात्मेति शेषः। अनात्मनोऽचेतनस्य मन्तृत्वानुपपत्तेरित्यर्थः। द्वितीयमनुवदति — यदेति। अस्मिन्पक्ष एकस्मिञ्शरीर आत्मद्वयं स्यादित्याह — तदेति। चशब्दौ परस्परसमुच्चयार्थौ। येन याऽऽत्मनाऽऽत्मनाऽऽत्मा मन्तोव्यो यश्चाऽऽत्मा मन्तव्य इत्यन्वयः। तृतीयान्तप्रथमान्तयच्छब्दाभ्यामुक्तौ द्वावात्मानौ स्यातामित्यर्थः। एतद्दोषपरिहारायैकस्यैवाऽऽत्मन एकांशेन मन्तृत्वमंशान्तरेण मन्तव्यत्वमित्युक्तौ सावयवत्वं स्यादित्याह — एक एवेति। [१]अस्तु को दोष इत्याशङ्क्याऽऽत्मभेदे तयोरैकमत्यायोगाद्विरुद्धदिक्क्रियतया शरीरमुन्मथ्येत। सावयवत्वेऽनित्यत्वेन कृतहानादिकं स्यादिति दोषमाह — उभयथेति। भिन्नयोरपि समानस्वभावयोर्दीपयोः कर्तृकर्मभावादर्शनादात्मभेदपक्ष आत्मशकलभेदपक्षे वा तयोः समानस्वभावत्वादभिन्नपक्ष इव कर्तृकर्मभावो न संभवतीत्यनुपपत्त्यन्तरमाह — यथेति। किंच "पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्" इति श्रुत्या करणानां बहिर्विषयत्व[२]नियमस्याऽऽत्मविषयत्वाभावस्य चोक्तत्वात्। यन्मनसा न मनुत इति श्रुतेश्च। मनसो बहिर्विषये मन्तव्य एव व्यापारो नाऽऽत्मनीत्याह — न च मन्तुरिति। न चैवं सति कश्चिद्धीः प्रत्यगात्मानमैक्षन्मनसैवानुद्रष्टव्यमित्यादीनां का गतिरिति वाच्यम्। मनसो बहिर्विक्षेपाभावेनैकाग्र्ये सत्यात्मा स्वयमेव प्रकाशत इति तदर्थत्वात्। अन्यथा पूर्वोक्तन्यायोपबृंहितामतोऽविज्ञात इत्यादिबहुश्रुतिव्याकोपः स्यादिति भावः। एवमात्मनः साक्षान्मनसा मन्तव्यत्वपक्ष एकस्मिञ्शरीर आत्मभेदस्तस्य शकलीभावो वा स्यादित्युक्तदोषमनुमितिविषयत्वपक्षेऽप्याह — यदाऽपीति। एवममतोऽ-

---

क्या निकलेगा? सिद्धान्ती :- इससे यहाँ यह सिद्ध होगा कि जो सबका मनन कर्ता है, वह मनन कर्ता ही रहेगा मन्तव्य नहीं होगा और उस मनन कर्ता का दूसरा कोई मनन कर्ता भी नहीं है। यदि आत्मा द्वारा ही वह मन्तव्य माना जाय तो जिस आत्मा से आत्मा मनन किया जाता है और जिस आत्मा का मनन किया जाता है वे दो होने लग जायेंगे; अथवा बाँस आदि के समान एक ही आत्मा मनन क्रिया का कर्ता और कर्मरूप से दो भागों में विभक्त माना जायगा किन्तु उपर्युक्त दोनों प्रकार से संगति नहीं बनती है। जैसे समान होने के कारण दो दीपकों का परस्पर प्रकाश्य-प्रकाशक भाव नहीं बनता, वैसे ही उपर्युक्त बात भी समझनी चाहिये इसके अतिरिक्त मनन कर्ता को अपना मनन करने के लिये मन्तव्य पदार्थों में मनन करने के व्यापार से शून्य कोई काल भी नहीं है। जब भी किसी लिंग से मनन कर्ता अपना मनन करने लगता है तब पहले के ही समान लिंग से मन्तव्य आत्मा और जो कोई उसका मनन करने वाला है, वे दो सिद्ध होते हैं; अथवा एक ही दो भागों मे विभक्त हो जाते हैं। इस

---

१. अस्त्विति — आत्मद्वयमेकत्र देहे। एकस्यैव वा सावयवत्वमात्मनोऽस्त्वित्यर्थः। २. नियमेत्यधिकम्। बहिर्विषयत्वात्मविषयत्वाभावाभ्यामेव तल्लाभात्। बहिर्विषयत्वमनात्मविषयत्वम्।

पूर्ववदेव लिङ्गेन मन्तव्य आत्मा यश्च तस्य मन्ता तौ द्वौ प्रसज्येयाताम्। एक एव वा द्विधेति पूर्वोक्तो दोषः। न प्रत्यक्षेण नाप्यनुमानेन ज्ञायते चेत्कथमुच्यते 'सम आत्मेति विद्यात्' (ऐ. आ. ३-२-४) इति। कथं वा "श्रोता मन्ता" (ऐ. आ. ३-२-४) इत्यादि।

ननु श्रोतृत्वादिधर्मवानात्माऽश्रोतृत्वादि च प्रसिद्धमात्मनः किमत्र विषमं पश्यसि। यद्यपि तव न विषमं तथाऽपि मम तु विषमं प्रतिभाति। कथम्। यदाऽसौ

विज्ञात इति श्रुत्या न्यायोपबृंहितया सर्वात्मना ज्ञेयत्वाभाव इति स्थितम्। तत्र पूर्ववादी शङ्कते — न प्रत्यक्षेणेति। कथमिति। ज्ञेयत्वप्रतिपादकश्रुतेः श्रोतृत्वादि[1]धर्मवत्त्वप्रतिपादकश्रुतेश्चानुपपत्तिरित्यर्थः।

तत्र विद्यादिति श्रुताविं[2]तरनिषेधे सति स्वप्रकाशत्वेन स्वतः स्फुरणमेवोच्यते न तु कर्मतया वेद्यत्वमिति परिहारं वक्ष्याम इत्यभिप्रेत्य श्रोतृत्वादिश्रुतौ परिहारमाह — नन्विति। तत्र किं धर्मवत्त्व-प्रतिपादनस्य का गतिरिति पृच्छ्यते, किं वा श्रोतृत्वादिप्रतिपादनेनाश्रोतृत्वादिकमसिद्धमित्युच्यते वेति विकल्प्य नाऽऽद्यः। [3]नित्यमेव श्रोतृत्वादिधर्माङ्गीकारादित्याह — श्रोतृत्वादीति। न श्रोता न मन्तेत्यादिश्रुतेर्नित्यमेवाश्रोतृत्वादेरपि प्रामाणिकत्वान्न द्वितीयोऽपीत्याह — अश्रोतृत्वादीति। उभयोरविरोधं चोत्तरत्र वक्ष्याम इति भावः। एवं च श्रोता मन्ता न श्रोता न मन्तेति चोभयश्रवणे सति श्रोतृत्वादिधर्मवानेवेत्यन्यतरपरिग्रहे[4]वैषम्यं तव न युक्तमित्याह — किमत्रेति। नन्वश्रोतृत्वश्रुतेर[5]न्यपर-त्वोपपत्तेर्न वैषम्यमित्याशङ्क्य कालभेदेनोभयोरपि दर्शनादन्यतरस्यान्यपरत्वे हेत्वभावाच्छ्रोतैवे-त्यङ्गीकारे वैषम्यं स्यादेवेत्याह — यद्यपीति। अश्रोतृत्वादि प्रसिद्धमनात्मन इति पाठे नन्विति वाक्यमपि शङ्कान्तर्गतमेव। श्रोतेत्यादिश्रुत्या श्रोतृत्वादिधर्मवानात्मा ननु तत्कथं स्यादित्यन्वयः। ननु न श्रोतेत्यादिश्रुतेरश्रोतृत्वादिधर्मवत्त्वमात्मन इत्याशङ्क्य लोकेऽप्रसिद्धेर्नैवमिति स एवाऽऽह — अश्रोतृत्वादीति। उभयोरप्यात्मधर्मत्वश्रवणे समानेऽन्यतरस्यानात्मधर्मत्वाभिधानमयुक्तमिति सिद्धान्ती दूषयति — किमत्रेति। ननु लोकप्रसिद्धिबलादनात्मधर्मत्वनिश्चयान्न वैषम्यमित्याशङ्क्य निराकरोति — यद्यपीति। अश्रोतृत्वादेरात्मधर्मत्वेऽपि प्रसिद्धेरविशेषाच्छ्रुत्यनुरोधेनोभयोरप्यात्मधर्मत्वमिति प्रश्नपूर्वकमाह — कथमिति। इतरत्सर्वं समानम्। त्वया हि कादाचित्कज्ञानेन नित्यमेव श्रोतृत्वादिकमङ्गी क्रियते तदयुक्तमित्याह — यदाऽसाविति। न मन्तेत्यनन्तरं न तु नित्यमेव श्रोता मन्ता वेति शेषः।

प्रकार पूर्वोक्त दोष आ ही जाता है और यदि वह न प्रत्यक्ष से जाना जाता है और न अनुमान से ही तो फिर कहते क्यों हैं कि "वह मेरा आत्मा है, ऐसा जानो" अथवा उसे श्रोता, मन्ता इत्यादि कैसे कहते हैं? **पूर्वपक्ष :-** आत्मा तो श्रोतृत्वादि धर्म से युक्त है और आत्मा का अश्रोतृत्वादि धर्म भी प्रसिद्ध है फिर तुम इसे विषम क्यों देखते हो। **सिद्धान्ती :-** यद्यपि तुम्हे विषमता नहीं भासती है तथापि मुझे तो विषमता प्रतिभासित होती है। कैसे? जिस समय वह श्रोता होता है, उस समय वह मननकर्ता

---

१. धर्मवत्त्वेति — धर्मवतो हि तत्प्रकारकप्रत्यक्षानुमानादिजन्यबोधविषयत्वावश्यंभावात् तथाऽवेद्यत्वे च धर्मवत्त्वप्रतिपादना-योगादिति भावः। अवश्यंभावादिति तथा दर्शनादिति भावः। २. इतरेति — प्रकाशकान्तरेत्यर्थः। ३. नित्यमेवेति — तथा च श्रोतृत्वादेः स्वरूपतया प्रकारत्वाभावादेव न सप्रकारकप्रत्यक्षादि विषयत्वं तदविषयत्वेऽपि तथा प्रतिपादनं चाविरुद्धमिति भावः (विषयत्वमात्मन इति शेषः)। ४. वैषम्यं तव न युक्तमिति—तथा च किमित्यस्य किमितीत्यर्थ इति भावः। एवमग्रेऽपि। ५. अन्यपरत्वेति — ज्ञानस्य कादाचित्कत्वपरत्वेति यावत्।

श्रोता तदा न मन्ता यदा च मन्ता तदा न श्रोता। तत्रैवं सति पक्षे श्रोता मन्ता पक्षे न श्रोता नापि मन्ता। तथाऽन्यत्रापि च। यदैवं तदा श्रोतृत्वादिधर्मवानात्माऽश्रोतृत्वादि-धर्मवान्वेति [1]संशयस्थाने कथं तव न वैषम्यम्। यदा देवदत्तो गच्छति तदा न स्थाता गन्तैव। यदा तिष्ठति तदा न गन्ता स्थातैव तदाऽस्य पक्ष एव गन्तृत्वं स्थातृत्वं च न नित्यं गन्तृत्वं स्थातृत्वं वा तद्वत्।

अत्र काणादादयः पश्यन्ति। पक्षप्राप्तेनैव श्रोतृत्वादिनाऽऽत्मोच्यते श्रोता मन्तेत्यादि, संयोगजत्व-मयौगपद्यं च ज्ञानस्य ह्याचक्षते। दर्शयन्ति च "अन्यत्रमना अभूवं नादर्शम्' (बृ. १-५-३) इत्यादि, "युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्" (न्या. सू. १-१-१६) इति च न्याय्यम्। भवत्वेवं किं तव

तथाऽन्यत्रापि। द्रष्टृत्वविज्ञातृत्वादावप्येवमेव कादाचित्कत्वमित्यर्थः। श्रोतृत्वादेः पाक्षिकत्वं दृष्टान्तेन स्पष्टी करोति – यदेति। तदाऽस्येत्यत्र यदैवमिति पदमध्याहृत्य यदैवं व्यवस्था तदाऽस्य पक्ष एव गन्तृत्वमिति वाक्यं योज्यम्। तद्वदिति। तथैव श्रोतृत्वादिकमपि न नित्यमित्यर्थः।

अत्रान्तरेऽविदिताभिप्रायाः कारणादादय उभयमपि कादाचित्कमेवास्त्विति चोदयन्तीत्याह – अत्रेति। ननु सिद्धान्तिनाऽपि श्रोतृत्वाश्रोतृत्वयोरङ्गीकारादस्य सिद्धान्तात्कथं भेद इत्याशङ्क्य तन्मते नित्यसाक्षिणो नित्यमेव श्रोतृत्वं कादाचित्कज्ञानस्य मृषात्वेन तदभावेन च नित्यमेवाश्रोतृत्वम्। अस्मिन्मते तु कादाचित्कज्ञानेनैव श्रोतृत्वादिकमिति विशेषमाह – संयोगजत्वमिति। ज्ञानस्य कादाचित्कत्वेऽ-यौगपद्ये च यथांक्रमं प्रमाणमाह – दर्शयन्ति चेति। युगपदिति। यदि मनो न स्यात्तर्हि चक्षुरादीन्द्रियाणां युगपदेव रूपादिभिः संबन्धे युगपदेव सर्वेन्द्रियैः सर्वविषयकज्ञानानि स्युः। सामग्र्याः सत्त्वात्। न च तथाऽस्ति। अतः क्रमेण तत्तदिन्द्रियसंयोग्यणुपरिमाणं मनोऽङ्गीकर्तव्यम्। तथा च युग-पत्सर्वेन्द्रियैर्मनः संयोगाभावात्सामग्र्यभावान्न युगपत्सर्वविषयकं ज्ञानम्। अतो युगपद्रूपादिसर्वविषय-कज्ञानानुत्पत्तिलिङ्गेन मनोऽस्तीति वदन्तो युगपत्सर्वज्ञानानुत्पत्तिरित्युक्तवन्त इत्यर्थः। इममर्थं न्याय्यं पश्यन्तीति पूर्वेणान्वयः। कारणादादिमते सिद्धान्तिना प्रदर्शिते सति तर्हि काणादादिरीत्या श्रुतिद्वयोप-पत्तेरात्मनि श्रोतृत्वादिधर्मवत्त्वसिद्धेश्च तथैवास्त्विति पूर्वपक्षी तदस्थो वा सिद्धान्तिनं प्रति शङ्कते – भवत्विति। यद्येवं न्याय्यं स्यादेवमेव भवतु किं तव नष्टमित्यर्थः। आत्मनः कादाचित्क-

---

नहीं होता और जब वह मन्ता होता है तब श्रोता नहीं होता, ऐसा होने के कारण ही एकपक्ष में श्रोता और मन्ता है तो दूसरे पक्ष में वह न श्रोता है न मन्ता ही है। ऐसा ही विज्ञाता आदि के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए।

जब ऐसी बात है, तब आत्मा श्रोतृत्वादि धर्मवाला है या अश्रोतृत्वादि धर्मवाला है। इस प्रकार संशय स्थल में तुझे विषमता क्यों नहीं दीखती है? जब देवदत्त चलता है, तब वह ठहरने वाला नहीं होता किन्तु गन्ता ही होता है और जब वह ठहरता है तो वह चलने वाला नहीं होता किन्तु स्थाता ही होता है। ऐसी अवस्था में इसका गन्तृत्व और स्थातृत्व पाक्षिक ही होता है। गन्तृत्व या स्थातृत्व नित्य नहीं होता वैसे ही आत्मा का श्रोतृत्वादि भी पाक्षिक ही सिद्ध होगा नित्य नहीं हो सकता।

---

१. संशयस्थान इति – यथोक्तसंशयविषय आत्मन्यन्तरेण प्रमाणमन्यतरकोटिपरिग्रहस्तव वैषम्यं निर्मूलः पक्षपात एवेत्यर्थः।

नष्टम्। यद्येवं स्यादस्त्वेवं तवेष्टं चेत्। श्रुत्यर्थस्तु न संभवति किं न श्रोता मन्तेत्यादिश्रुत्यर्थः। न। "न श्रोता न मन्ता"इत्यादिवचनात्।

ननु पाक्षिकत्वेन प्रत्युक्तं त्वया। न नित्यमेव श्रोतृत्वाद्यभ्युपगमात्। "न हि श्रोतुः श्रुतेर्विपरिलोपो विद्यते"(बृ. ४-३-२७) इत्यादिश्रुतेः। एवं तर्हि नित्यमेव श्रोतृत्वाद्यभ्युपगमे प्रत्यक्षविरुद्धा युगपज्ज्ञानोत्पत्तिरज्ञानाभावश्चाऽऽत्मनः कल्पितः स्यात्। तच्चानिष्टमिति।

ज्ञानेन श्रोतृत्वादिधर्मवत्त्वस्य श्रुत्यनभिमतत्वान्न तन्न्याय्यमिति सिद्धान्ती तं पक्षं दूषयति — अस्त्वेवमिति। ननु श्रोता मन्तेतिश्रुत्या तद्धर्मवत्त्वप्रतिपादनादनभिमतत्वमसिद्धमिति शङ्कते — किं नेति। न श्रोतेत्यादिश्रुत्याऽविशेषतः। कालत्रयेऽपि श्रोतृत्वादिधर्मराहित्यप्रतिपादनात्तद्धर्मवत्त्वमनभिमतमेवेत्युत्तरमाह सिद्धान्ती — न, न श्रोतेति।

यदाऽसौ श्रोतेत्यादिना श्रोतृत्वादेः पाक्षिकत्वस्य त्वयैवोक्तत्वात्काणादपक्षप्रदर्शनवेलायां च कादाचित्कज्ञानेन तदुपपादनात्पाक्षिकश्रोतृत्वादि तदभावविषयतया श्रुतिद्वयस्योपपत्तिं शङ्कते — नन्विति। अपाक्षिकत्वेन श्रोतृत्वतद्भावयोः श्रुतिभ्यां स्वरसतः प्रतीतेः पाक्षिकत्वेन तत्संकोचो न युक्त इति स्वाभिप्रायं विवृण्वन्नाह सिद्धान्ती — न नित्यमेवेति। ननु [1]श्रुतेरनित्यत्वे सति तद्घटितं श्रोतृत्वमप्यनित्यमिति संकोच आवश्यकोऽत आह — न हीति। श्रुतेः श्रोतृत्वस्य चानित्यत्ववचनं श्रुतिविरुद्धमित्यर्थः। श्रुतिमत्यादीनां नित्यत्वे युगपत्सर्वज्ञानं स्यात्कदाचिदपि कस्यचिदपि ज्ञानस्याभावो न स्यात्। श्रुत्यादिशब्दितानां सर्वेषां ज्ञानानां नित्यत्वात्। न चेष्टापत्तिः। प्रत्यक्षविरोधात्। अतो न हि श्रोतुः श्रुतेरित्यादिश्रुते[2]रन्यपरत्वं वक्तव्यमिति शङ्कते — एवं तर्हीति। इतिशब्दः शङ्कासमा-

---

काणाद आदि दूसरे मतावलम्बी भी इस विषय में ऐसा ही मानते हैं क्योंकि इस सम्बन्ध में उनका कहना है कि पक्ष में प्राप्त श्रोतृत्वादि के कारण ही आत्मा श्रोता-मन्ता इत्यादि कहा जाता है। वे ज्ञान को इन्द्रिय और मन के संयोग जन्य मानते हैं। एक साथ अनेक ज्ञान का होना नहीं मानते हैं और मन को एक साथ अनेक ज्ञान उत्पन्न न होने में तर्क भी देते हैं "मैं अन्यत्र मन वाला था, इसलिये देख न सका" इत्यादि लिंग भी प्रदर्शित करते हैं जो युक्ति संगत है। पूर्वपक्ष-सिद्धान्तत : ऐसा मान भी लें। पर ऐसा होने पर भी आप की क्या क्षति होगी? सिद्धान्ती - यदि तुम्हें यह अभीष्ट हो तो तुम्हारे लिये यह हो सकता है किन्तु श्रुति का तात्पर्य यह नहीं हो सकता। पूर्वपक्ष :- श्रोता-मन्ता इत्यादि श्रुत्यर्थ नहीं है? सिद्धान्त :- नहीं, क्योंकि श्रुति में न श्रोता है, न मन्ता है इत्यादि वचन भी दीखते हैं।

पूर्वपक्ष :- इस विरोध को तो आपने पाक्षिक कहकर खण्डित कर दिया है। सिद्धान्ती :- नहीं, क्योंकि आत्मा का श्रोतृत्वादि नित्य ही माना गया है "श्रोता की श्रुति का कभी भी लोप नहीं होता" इत्यादि श्रुति से सिद्ध होता है। पूर्वपक्ष :- इस प्रकार मानने पर तो आत्मा का नित्य श्रोतृत्वादि स्वीकार करने पर प्रत्यक्ष विरुद्ध अनेक ज्ञानों का एक साथ उत्पन्न होना और साथ ही आत्मा में अज्ञान का अभाव ये दो बातें आपको माननी पड़ेंगी जो वह किसी को भी अभीष्ट नहीं है।

---

१. श्रुतेरिति — शब्दजन्यज्ञानस्येत्यर्थः। शब्दज्ञानस्येति यावत्। २. अन्यपरत्वमिति — अत्यन्ताभावप्रतियोगिकाभावपरत्वं न तु ध्वंसाऽत्यन्ताभावपरत्वमिति भावः।

नोभयदोषोपपत्तिरात्मनः श्रुत्यादिश्रोतृत्वादिधर्मवत्त्वश्रुतेः। अनित्यानां मूर्तानां च चक्षुरादीनां दृष्ट्याद्यनित्यमेव संयोगवियोगधर्मिणाम्। यथाऽग्नेर्ज्वलनं तृणादिसंयोगजत्वात्तद्वत्।

न तु नित्यस्यामूर्तस्यासंयोगविभागधर्मिणः संयोगजदृष्ट्याद्यनित्यधर्मवत्त्वं संभवति। तथा च श्रुति:- "न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते" (बृ. ४-३-२३) इत्याद्या। एवं तर्हि द्वे दृष्टी चक्षुषोऽनित्या दृष्टिर्नित्या चाऽऽत्मनः। तथा च द्वे श्रुती श्रोत्रस्यानित्या नित्याऽऽत्मस्वरूपस्य। तथा द्वे मती विज्ञाती बाह्याबाह्ये। एवं ह्येव तथा चेयं श्रुतिरुपपन्ना

प्त्यर्थः। परिहरति – नोभयेति। युगपज्ज्ञानोत्पत्तिरज्ञानाभावश्चेत्युभयदोषस्योपपत्तिः संभवो नास्तीत्यर्थः। श्रोतृत्वादेर्नित्यत्वे कथमुभयदोषाभाव इत्याशङ्क्याऽऽत्मस्वरूपभूतसाक्षिरूपश्रुत्यादेर्नित्यत्वेऽपि वृत्तिरूपकादाचित्कश्रुत्यादेरप्यभ्युपगमादुक्तदोषाभाव इति परिहरन्नित्यश्रोतृत्वादिकं दर्शयति – आत्मन इति। आत्मनः स्वरूपभूतं यच्छ्रुत्यादि श्रोत्रजन्यवृत्तिसाक्षिरूपं तद्वशाद्यच्छ्रोतृत्वादि तद्धर्मवत्त्वस्य श्रोता मन्तेत्यादिना श्रुतेरित्यर्थः। अनित्यश्रुत्यादिकं तर्हि कथमित्याशङ्क्य तद्दर्शयति – अनित्यानामिति। तेषाम[1]नित्यत्वमाह – मूर्तानामिति। दृष्ट्यादेरनित्यत्वे हेतुमाह – संयोगेति। संयोगजन्यत्वाद्दृष्ट्यादेरनित्यत्वमित्यर्थः। ज्वलनमित्यनन्तरमनित्यमित्यनुषङ्गः।

ननु यद्यनित्यं दृष्ट्याद्यभ्युपगम्येत तर्हि तदेवाऽऽत्मनोऽपि धर्मोऽस्तु किं नित्यदृष्ट्यादिनेत्यत आह – नन्विति। नित्यत्वाद[2]मूर्तत्वममूर्तत्वात्संयोगादिधर्मरहितत्वं ततः संयोगजदृष्ट्याद्यसंभव इत्यत आत्मनो नित्यदृष्ट्याद्यभ्युपगन्तव्यमित्यर्थः। श्रुतितोऽपि नित्यदृष्ट्यादिसिद्धिरित्याह – तथा चेति। नित्यानित्यदृष्टिद्वयाङ्गीकारे गौरवमिति शङ्कते – एवं तर्हीति। श्रुतिप्रामाण्याद्द्वैविध्याङ्गीकारे गौरवं प्रामाणिकमित्याह – एवं ह्येवेति। तथा चेति। चोऽवधारणे तथैवेत्यर्थः। दृष्टेर्द्रष्टेति। दृष्टि-

सिद्धान्ती :- इन दोनों दोषों की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि श्रुति वाक्यानुसार आत्मा "श्रुति का श्रोता, मति का मन्ता" इत्यादि धर्म वाला है। जैसे तृणादि के संयोग से होने के कारण अग्नि का प्रज्वलित होना अनित्य है, वैसे ही संयोग-वियोग धर्मी मूर्त एवं अनित्य चक्षुरादि के धर्म दृष्टि आदि अनित्य ही हैं।

किन्तु जो संयोग-वियोग धर्म से रहित नित्य और अमूर्त है, उस आत्मा का संयोग जनित दृष्टि आदि अनित्य धर्मों से युक्त कहना उचित नहीं है। ऐसे ही "द्रष्टा की दृष्टि का लोप नहीं होता" इत्यादि श्रुति भी है। इस प्रकार दो दृष्टि सिद्ध हो जाती हैं। नेत्र की अनित्य दृष्टि और आत्मा की नित्य दृष्टि। वैसे ही श्रोत्र की अनित्य श्रुति और आत्मा की नित्य श्रुति, ऐसी दो श्रुति भी हैं। इसी प्रकार बाह्य और अबाह्यरूप से मति और विज्ञाति भी दो-दो प्रकार की है। ऐसी स्थिति में ही "दृष्टि का द्रष्टा है, श्रुति का श्रोता है" इत्यादि श्रुति युक्ति-युक्त हो सकती है। लोक में भी तिमिर रोग के आगम और अपगम से "दृष्टि नष्ट हो गयी, दृष्टि उत्पन्न हो गयी" इसी प्रकार नेत्र दृष्टि का अनित्यत्व प्रसिद्ध ही है। वैसे ही श्रुति, मति इत्यादि का अनित्यत्व भी माना गया है और आत्मा की

१. अनित्यत्वमाहेति – तथा च मूर्तत्वमेवानित्यत्वमिति भावः। वस्तुतस्तु सावयवत्वं मूर्तत्वं तच्चानित्यत्वसाधकं तदुपपादकं च संयोगेत्यादिनोक्तमिति युक्तं पश्यामः। २. अमूर्तत्वं निरवयवत्वम्।

भवति दृष्टेर्द्रष्टा श्रुतेः श्रोतेत्याद्या। लोकेऽपि प्रसिद्धं चक्षुषस्तिमिरागमापाययोर्नष्टा दृष्टिर्जाता दृष्टिरिति चक्षुर्दृष्टेरनित्यत्वम्। तथा च श्रुतिमत्यादीनामात्मदृष्ट्यादीनां च नित्यत्वं प्रसिद्धमेव लोके वदति ह्युद्धृतचक्षुः स्वप्नेऽद्य मया भ्राता दृष्ट इति। तथाऽवगतबाधिर्यः स्वप्ने श्रुतो मन्त्रोऽद्येत्यादि।

यदि चक्षुःसंयोगजैवाऽऽत्मनोऽनित्या दृष्टिस्तन्नाशे नश्येत्तदोद्धृतचक्षुः स्वप्ने नीलपीतादि न पश्येत् "न हि द्रष्टुर्दृष्टेः" इत्याद्या च श्रुतिरनुपपन्ना स्यात्। तच्चक्षुः पुरुषे येन स्वप्ने पश्यतीत्याद्या च श्रुतिः।

विषयकदृष्टिमानिति तदर्थः। तत्र विषयविषयिभावस्यैकस्मिन्नसंभवाद्दृष्टिद्वयं प्रतीयत इति दृष्टिद्वैविध्ये सत्येवेयं श्रुतिरुपपद्यते नान्यथेत्यर्थः। तिमिररोगस्याऽऽगमे नष्टा दृष्टिरपाये च जाता दृष्टिरितिप्रतीतेर्जन्मनाशयोगिन्यनित्या दृष्टिरेका तदीयजन्मनाशसाक्षिभूता द्वितीया दृष्टिरस्तीति लोकेऽपि प्रतीयत इत्याह — लोकेऽपीति। चक्षुर्दृष्टेरित्युपलक्षणमात्मदृष्टेर्नित्यत्वं च प्रसिद्धमित्यपि द्रष्टव्यम्। तथा च श्रुतिमत्यादीनामिति। अनित्यत्वं नित्यत्वं च प्रसिद्धमित्यनुषङ्गः। आत्मदृष्ट्यादीनां नित्यत्वे हेत्वन्तरमाह — आत्मदृष्ट्यादीनां चेति। स्वप्ने चक्षुषोऽभावेऽपि दृष्टेः सत्त्वान्न सा चक्षुर्जन्येति नित्यैवेत्यर्थः। चक्षुः स्वप्नेऽप्यनुपरतमिति यदि कश्चिद्ब्रूयात्तं प्रत्युक्तम् — उद्धृतचक्षुरिति। तस्य चक्षुःसत्त्वशङ्कैव नास्तीत्यर्थः। अवगतेति। अवगतं निश्चितं बाधिर्यं यस्येत्यर्थः। न च स्वप्नदृष्ट्या-देशचक्षुराद्यजन्यत्वात्कथं दृष्टिश्रुत्यादिशब्दवाच्यत्वमिति वाच्यम्। रूपादिविषयकापरोक्षज्ञानस्यैव दृष्ट्यादिशब्दवाच्यत्वादिति भावः।

उक्तमर्थं विपर्यये बाधकोक्त्या द्रढयति — यदीति। न पश्येदिति। दर्शनहेतोश्चक्षुषोऽभावा-दित्यर्थः। न चेदं दर्शनं स्मृतिरिति वाच्यम्। तथा सति संनिहितत्वेनापरोक्षावभासो न स्यात्। न च [1]तदंशे भ्रम इति वाच्यम्। [2]बाधकाभावात्पूर्वमननुभूतभ्रात्रादिदर्शनं च न स्यादिति भावः। इदमुपलक्षणं सुप्तोत्थितस्य सुखमहमस्वाप्समिति परामर्शहेतुभूतः सुषुप्तिकालीनानुभवोऽपि नित्योऽ-भ्युपगन्तव्यः। तदानीं सर्वकरणानामभावेनानित्यानुभवाभावादित्यपि द्रष्टव्यम्। न केवलं [3]प्रत्यक्षस्या-नुपपत्तिः श्रुतिरप्यनुपपन्नास्यादित्याह — न हि द्रष्टुरिति। न हि श्रोतुः श्रुतेर्विपरिलोपो विद्यत इत्यादिराद्या चेत्यनेन गृह्यते। तच्चक्षुरिति। चष्ट इति चक्षुर्द्रष्ट साक्षी पुरुष आत्मनि शरीरे वा येन स्वप्ने पश्यति तच्चक्षुः साक्षीत्याद्या चानुपपन्ना स्यादित्यनुषङ्गः। स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यतीत्यादिरादिशब्दार्थः।

दृष्टि आदि का नित्यत्व लोक में प्रसिद्ध ही है। जिसकी आँख निकाल दी गयी है, वह पुरुष भी कहता है कि आज मैंने स्वप्न में भाई को देखा था और जिसका बहिरापन सर्व प्रसिद्ध है, वह भी "मैंने आज स्वप्न में मन्त्र सुना" इत्यादि कहता देखा जाता है।

यदि आत्मा की नित्य दृष्टि नेत्रेन्द्रिय संयोग जन्य होती तो नेत्र के नाश होने पर उसे नष्ट हो जाना चाहिए था। उस दशा में उद्धृत नेत्र पुरुष स्वप्न में नीला-पीला आदि नहीं देख सकेगा और तब "द्रष्टा की दृष्टि का लोप नहीं होता" इत्यादि श्रुति और "वह नेत्र है, जिसके द्वारा पुरुष स्वप्न में देखता है" इत्यादि श्रुति भी असंगत हो जायगी।

---

१. तदंशे संनिहितत्वांशेऽपरोक्षत्वांशे चेत्यर्थः। २. बाधकाभावादिति — तदुत्तरं बाधकज्ञानादर्शनादित्यर्थः। ३. प्रत्यक्षस्य जागरितादिकालीनतयोक्तस्य।

नित्यात्मनो दृष्टिर्बाह्यानित्यदृष्टेर्ग्राहिका। बाह्यादृष्टेश्चोपजनापायाद्यनित्यधर्मवत्त्वात्तद्ग्राहिकाया आत्मदृष्टेस्तद्वदवभासत्वमनित्यत्वादिभ्रान्तिनिमित्तं लोकस्येति युक्तम्। यथा भ्रमणादिधर्मवदलातादिवस्तुविषयदृष्टिरपि भ्रमतीव तद्वत्। तथा च श्रुतिः-"ध्यायतीव लेलायतीव" (बृ. ४-३-७) इति। तस्मादात्मदृष्टेर्नित्यत्वान्न यौगपद्यमयौगपद्यं वाऽस्ति।

बाह्यानित्यदृष्ट्युपाधिवशात्तु लोकस्य। तार्किकाणां चाऽऽगमसंप्रदायवर्जितत्वादनित्याऽऽत्मनो दृष्टिरिति भ्रान्तिरुपपन्नैव। [1]जीवेश्वरपरमात्मभेदकल्पना चैतन्निमित्तैव।

नन्वात्मदृष्टेर्नित्यत्वे कथं तत्रानित्यत्वप्रतीतिः कथं वाऽस्य लोकस्यानित्यैव सर्वाऽपि दृष्टिरिति निश्चयश्चेत्याशङ्क्य ग्राह्यानित्यदृष्टिगतमनित्यत्वादि सर्वं ग्राहिकायां नित्यदृष्टौ भासते। ग्राह्यायःपिण्डगतवर्तुलत्वादिधर्माणां ग्राहकाग्न्यादौ भानदर्शनादतो लोकस्य तथा प्रतीतिरुपपद्यत इत्याह — नित्येत्यादिना। तद्वदवभासत्वमिति। ग्राह्यावदवभासमानत्वमित्यर्थः। ग्राह्यधर्मस्य ग्राहके भानं दृष्टान्तेन स्पष्टयति — यथा भ्रमणादीति। आदिशब्देन गमनादि गृह्यते। द्वितीयेन धावत्पक्ष्यादि। ध्यायतीवेति। ग्राह्यबुद्धिगतं ध्यानादिकं ग्राहके साक्षिणि भासत इति श्रुत्यर्थः। एवं च यत्पूर्ववादिना युगपदनेकज्ञानोत्पत्तिः प्रत्यक्षविरुद्धा स्यादित्युक्तं तत्परिहृतमित्याह — तस्मादित। तस्मादित्यस्यार्थमाह — आत्मदृष्टेरिति। अनेकनिरूप्यत्वाद्यौगपद्यस्य तदभावरूपत्वादयौगपद्यस्यैकस्यां दृष्टौ तदुभयमपि नास्तीत्यर्थः।

नन्वात्मदृष्टेर्नित्यत्वे कथं परीक्षाकुशलानां नैयायिकानां सर्वस्य लोकस्य च भ्रमः स्यादित्याशङ्क्य "न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः। नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्ताऽन्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ" इत्यादिश्रुतेः स्वबुद्ध्या ज्ञातुमशक्यत्वावगमात्संप्रदाय परम्परयैव ज्ञातव्यत्वावगमाच्च तेषां तद्रहितत्वाद्भ्रमो युक्त इत्याह — बाह्यानित्येति। न केवलं ज्ञानभेदकल्पनैव तेषां भ्रमः किंत्वात्मभेदकल्पनाऽप्येतन्मूलो भ्रम एवेत्याह — जीवेश्वरेति। एतन्निमित्तेति। ज्ञाननित्यत्वतद्भेदकल्पनानिमित्तैव, नित्यानित्यज्ञानवतोजीवेश्वरयोर्विचित्रज्ञानवतां च जीवानां परमात्मनश्चैकत्वं न संभवतीति

आत्मा की नित्य दृष्टि अनित्य बाह्य दृष्टि को ग्रहण करती है। बाह्य दृष्टि उत्पत्तिविनाशादि अनित्य धर्मों वाली है। अतः उस अनित्य बाह्य दृष्टि को ग्रहण करने वाली आत्मदृष्टि उसी के समान लोगों को भासित होती है और अनित्य प्रतीत होती है, वह भ्रान्ति के कारण ही है। ऐसा मानना युक्ति-युक्त है। जैसे भ्रमणादि धर्म वाली अब अलात चक्रादि वस्तुओं से सम्बन्धित दृष्टि भी घूमती-सी जान पड़ती है, वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिए। इसीलिए "ध्यायतीव, लेलायतीव" इत्यादि श्रुति भी है। अतः नित्य होने के कारण आत्मदृष्टि का अनेक दृष्टियों का एक साथ होना रूप यौगपद्य अथवा अयौगपद्य कहना नहीं बनता है।

बाह्य अनित्य दृष्टिरूप उपाधि के कारण ही लोगों को और तार्किकों को वैदिक सम्प्रदाय से बहिर्भूत होने के कारण ऐसा भ्रम होना उचित ही है कि आत्मा की दृष्टि अनित्य ही है। इसी भ्रान्ति के कारण जीव, ईश्वर और परमात्मा के भेद की कल्पना भी होती रहती है।

---

१. जीवेश्वरपरमात्मेति — ६३ इति पृष्ठोक्त "ननु त्रय आत्मान" इत्युपक्रमानुसारेण जीव ईश्वरो ब्रह्मेति भेदकल्पनेत्यर्थः।

तथाऽस्ति नास्तीत्याद्याश्च यावन्तो वाङ्मनसयोर्भेदा यत्रैकं भवन्ति तद्विषयाया नित्याया दृष्टेर्निर्विशेषायाः।

अस्ति नास्तीत्येकं नानागुणवदगुणं जानाति न जानाति क्रियावदक्रियं फलवदफलं सबीजं निर्बीजं सुखं दुःखं मध्यममध्यं शून्यमशून्यं परोऽहमन्य इति वा सर्ववाक्प्रत्ययागोचरे स्वरूपे यो विकल्पयितुमिच्छति स नूनं खमपि चर्मवद्वेष्टयितुमिच्छति

युक्त्याभासेन तैर्भेदकल्पनादित्यर्थः। किंचाऽऽत्मनैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते। अयमात्मा ब्रह्म [1]सर्वानुभूः प्रज्ञानघन एवेत्यादिश्रुतिभ्य आत्मन एव नित्यदृष्टिरूपत्वादात्मनश्च सर्वाः प्रजा यत्रैकं भवन्तीत्यादिना सर्वकल्पनानां तन्मात्रत्वेन तद्व्यतिरेकेणाभावोक्तेर्निर्विशेषत्वात्तद्रूपाया अपि दृष्टेर्निर्विशेषत्वात्तस्या-मस्तीत्याद्याः सर्वाः कल्पना भ्रान्तिनिमित्ता एवेत्याह — तथाऽस्तीति। यावन्तो वाग्भेदा नामविशेषा [2]मनसो भेदा रूपविशेषा यत्राऽऽत्मन्येकं भवन्ति सर्वे वेदा यत्रैकं भवन्ति सर्वाः प्रजा यत्रैकं भवन्तीत्यादिश्रुतेस्तद्विषयायास्तत्स्वरूपाया अत एव नित्याया निर्विशेषाया दृष्टेरस्तीत्यादिकल्पनाऽऽ-स्तिकानाम्। नास्तीति कल्पना शून्यवादिनाम्। अस्ति नास्तीति कल्पना [3]दिगम्बराणाम्। अन्येषां च यथायथं सावयवत्वादिकल्पना। सा सर्वाऽपि भ्रान्तिनिमित्तैवेति पूर्वेणान्वयः।

ननु ते ते तार्किका आत्मनोऽस्तित्वादींस्तर्केण साधयन्ति। अतो न [4]तेषां भ्रान्तिनिमित्तत्व-मित्याशङ्क्य श्रुतिविरुद्धत्वादसङ्ग आत्मन्यनुपपत्तेस्तेषां कल्पनानां सत्त्वे मोक्षानुपपत्तेश्च तेषां तार्किकाणां कल्पना न प्रमाणपथमारोहतीत्याह — अस्ति नास्तीति। सुषुप्तौ न जानात्यन्यत्र जानातीति कादाचित्कज्ञानवत्त्वकल्पना वैशेषिकादीनाम्। आत्मा परलोकं प्रति गच्छतीति केषांचित्क्रियावत्त्व-कल्पना। इहैव स्थित्वा शरीरान्तरं गृह्णातीत्यन्येषाम्। देहात्मवादे क्षणिकविज्ञानवादे वाऽफलं परलोकस्थायिनोऽभावात्। अन्येषां फलवत्। देहात्मक्षणिकवादिपक्ष एव कर्मतद्वासनानामाश्रया-भावा[5]त्परलोके निर्बीजं, नित्यात्मवादिनां सबीजं, दुःखमसुखरूपं वैशेषिकादिवादे। यद्वा विज्ञानवादे सोपप्लवचित्तसंततिरूपस्य संसारिणो हेयत्वाङ्गीकाराद्दुःखरूपत्वमात्मनः। शरीरमध्य एव वर्तत इति दिगम्बराणां मते मध्यम्। अन्येषां तु तद्बहिरप्यस्तीत्यमध्यम्। परोऽहमिति मत्तः परोऽयमहं ततोऽन्य इति प्रत्यक्पराग्भेदादिकल्पना अस्तीत्याद्याः परोऽयमहमन्य इत्यन्ताः कल्पना वाक्प्रत्ययागोचरे वाङ्मन-सागोचरे यो विकल्पयितुमिच्छतीत्यन्वयः। आरोढुमित्यत्र खमित्यनुषङ्गः। जले मीनानां खे वय-

इसी प्रकार "है, नहीं है" आदि जितने भी वाणी और मन के भेद हैं; वे सब के सब "जहाँ एक हो जाते हैं, उस नित्य निर्विशेष दृष्टि जो सम्पूर्ण वाणी और प्रतीतियों की अविषय है, उसमें" नहीं रह जाती। उसमें एक-अनेक; नहीं है, और है; सगुण और निर्गुण; जानता है, नहीं जानता है, सक्रिय-निष्क्रिय; सफल-निष्फल; सबीज-निर्बीज; सुख-दुःख मध्य-अमध्य; शून्य-अशून्य; या पर अहं एवं अन्य की जो कल्पना करना चाहता है, वह निःसन्देह आकाश को भी चमड़े के समान लपेटना चाहता है और सीढियों के समान पैरों से उस पर चढ़ना चाहता है। वह मानो जल में

१. सर्वानुभूरिति — अनुभवनमनुभूः सर्वश्चासावनुभूश्चेति सर्वानुभूः सर्वात्मको ज्ञानात्मकश्चेत्यर्थः। २. मनसो भेदा रूपविशेषा इति — मनःकल्पितत्वाद्रूपाणां तद्भेदत्वोक्तिः। ३. दिगम्बराणामिति — केनचिद्रूपेणास्ति केनचिद्रूपेण च नास्तीत्येवं स्याद्वादिनां जैनानामित्यर्थः। ४. तेषाम् — अस्तित्वादीनाम्। ५. परलोके जननीये बीजाभावो बीजाभाववद्वाऽऽत्मरूप-मित्यर्थः।

सोपानमिव च पद्भ्यामारोढुम्। जले खे च मीनानां वयसां च पदं दिदृक्षते। "नेति नेति" "यतो वाचो निवर्तन्ते" इत्यादिश्रुतिभ्यः। "को अद्धा वेद" (ऋ. वे. १०-१२९-६) इत्यादिमन्त्रवर्णात्।

कथं तर्हि तस्य सम आत्मेति वेदनं ब्रूहि केन प्रकारेण तमहं सम आत्मेति विद्याम्। अत्राऽऽख्यायिकामाचक्षते। कश्चित्किल मनुष्यो मुग्धः कैश्चिदुक्तः कस्मिंश्चिदपराधे सति धिक्त्वा नासि मनुष्य इति। स मुग्धतयाऽऽत्मनो मनुष्यत्वं प्रत्याययितुं कंचिदुपेत्याऽऽह। ब्रवीतु भवान्कोऽहमस्मीति। स तस्य मुग्धतां ज्ञात्वाऽऽह। क्रमेण बोधयिष्यामीति। स्थावराद्यात्मभावमपोह्य न त्वममनुष्य इत्युक्त्वोपरराम। स तं मुग्धः प्रत्याह। भवान्मां बोधयितुं प्रवृत्तस्तूष्णीं [१]बभूव किं न बोधयतीति। तादृगेव तद्भवतो वचनम्। नास्यमनुष्य इत्युक्तेऽपि मनुष्यत्वमात्मनो न प्रतिपद्यते यः स कथं

सामित्यन्वयः। वाङ्मनसभेदा आत्मनि न सन्ति तदगोचरश्चाऽऽत्मेत्यत्र क्रमेण श्रुतिद्वयमाह — नेति नेतीति। वाङ्मनसागोचरत्वे श्रुत्यन्तरमाह — को अद्धेति। अद्धा साक्षात्को वेदेति मनोगोचरत्वं क इह प्रवोचदिति वाग्गोचरत्वं च निषेधतीत्यर्थः।

वाङ्मनसागोचरत्वे श्रवणमननयोरसंभवादात्मनो वेदनं न संभवतीति शङ्कते — कथमिति। तर्हि माऽस्त्वात्मवेदनमित्याशङ्क्य [२]श्रुतेर[३]नतिशङ्क्यत्वादात्मवेदननिषेधायोगात्तत्रोपायं पृच्छामीत्याह — ब्रूहीति। केन प्रकारेण सम आत्मेति विद्यां तं प्रकारं ब्रूहीत्यन्वयः। नेति नेतीत्यादिश्रुत्युदाहरणेनैवेतरनिषेधेनैव तस्य स्वप्रकाशस्य बोध इति वेदनप्रकारस्योक्तत्वात्प्रकारान्तरासंभवादनेनैव प्रकारेणाविषयतया वेदितव्य इति मत्वा सोपहासमुत्तरमाह — अत्राऽऽख्यायिकामिति।। मुग्ध इति। मूढ इत्यर्थः। स्थावरादीति। न त्वं स्थावरादिरूप इत्यर्थः। नन्वितरनिषेधेन तद्भेदज्ञानेऽपि त्वमेवंभूत इत्यनभिधानेऽहमेवंभूत इति ज्ञानाभावात्तदर्थं विधिमुखेन बोधनं कार्यमत आह — नासीति। अपरोक्षतया प्रतीयमाने वस्तुनि विपर्ययेण गृहीते विपर्ययनिरासमात्रे यत्नः कार्यो न तु स्वरूपबोधे तस्य

मछली और आकाश में पक्षियों के चरण चिह्न देखने को उत्सुक है। जैसा कि "यह नहीं, यह नहीं" "जहाँ से वाणी लौट आती है" इत्यादि श्रुतियों और "उसे साक्षात् कौन जानता है" इत्यादि मन्त्र वर्ण से सिद्ध होता है।

पूर्वपक्ष :- तो फिर उसे वह आत्मा है, इस प्रकार कैसे जानता है? आप कहो कि उसे किस प्रकार "वह मेरा आत्मा है" ऐसा जान सकूँगा? **सिद्धान्ती** :- इस विषय में एक कथा कहते हैं किसी मूढ़ मनुष्य से कुछ अपराध हो जाने पर किसी ने कहा "तुझे धिक्कार है, तू मनुष्य नहीं है" मूढ़ता वश अपना मनुष्यत्व निश्चित कराने के लिए किसी के पास जाकर उसने कहा आप बतलाइए मैं कौन हूँ? उसकी मूर्खता समझकर उसने कहा कि धीरे-धीरे बतलाऊँगा और फिर स्थावरादि में आत्मभाव का निषेधकर उससे कहा तू "अमनुष्य नहीं है" ऐसा कहकर वह चुप हो गया, तब उस मूर्ख ने उससे कहा मुझे समझाने के लिए प्रवृत्त होकर अब आप चुप क्यों हो गए, समझाते क्यों नहीं।

---

१. बभूवेत्यात्मनो मनुष्यत्वसंदेहदोलायमानचेतसो मुग्धस्योक्तिरित्यदोषा बहु जगदेत्यादिवत्। २. श्रुतेरिति— सम आत्मेति विद्यादित्येवमादिकाया इत्यर्थः। ३. अनतिशङ्क्यत्वादिति—निषेधनीयार्थत्वाभावादित्यर्थः।

मनुष्योऽसीत्युक्तोऽपि मनुष्यत्वमात्मनः प्रतिपद्येत।

तस्माद्यथाशास्त्रोपदेश एवाऽऽत्मावबोधविधिर्नान्यः। न ह्यग्नेर्दाह्यं तृणाद्यन्येन केनचिद्दग्धुं शक्यम्। अत एव शास्त्रमात्मस्वरूपं बोधयितुं प्रवृत्तं सदमनुष्यत्वप्रतिषेधेनेव 'नेति नेति' इत्युक्त्वोपरराम। तथा "अनन्तरमबाह्यं[1]मयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरित्यनुशासनम्" (बृ. २-५-१९)। "तत्त्वमसि" (छा. ६-८-७) "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्" (बृ. ४-५-१५) इत्येवमाद्यपि च।

यावदयमेवं यथोक्तमिममात्मानं न वेत्ति तावदयं बाह्यानित्यदृष्टिलक्षणमुपाधि-

---

स्वयमेव प्रतीतेः। तथाऽपि चेन्न बोद्धुं शक्नोति तर्ह्यतिमूढत्वादुपदेशानर्ह एव स इत्यर्थः।

अतः प्रकृत आत्मनो नित्यापरोक्षस्याहं मनुष्य इत्यादिनाऽऽरोपितरूपेण प्रतीते[2]स्तस्य "नेति नेति" "यतो वाचो निवर्तन्ते" इतीतरनिषेधे कृते स्वप्रकाशस्य स्वयमेव प्रतीतिसंभवादयमेवोपदेशप्रकारो नान्य इत्युपसंहरति — तस्मादिति। ननु शास्त्रं विनाऽप्यन्यतो विधिमुखेनाऽऽत्मावबोधोऽस्त्वित्यत आह न ह्यग्नेरिति। शास्त्रै कसमधिगम्यत्वादात्मनो न हेत्वन्तरेण बोधः संभवतीत्यर्थः। शास्त्रीयोऽप्यवबोध-प्रकारोऽयमेव नान्य इतीतरनिषेधमात्रेणोपरमान्निश्चीयत इत्याह — अत एवेति। इत्यनुशासनमितिपदेना-र्थादनुशासनान्तरनिषेधादप्येवमेवेत्याह — तथाऽनन्तरमिति। तत्त्वमसीत्यत्रापि तत्पदार्थसामानाधिकरण्येन त्वंपदार्थे [3]कर्तृत्वादिनिषेधेनैव तस्य ब्रह्मत्वबोध इत्याह — तत्त्वमसीति। तत्केन कं पश्येदिति दर्शनक्रियाकर्मत्वनिषेधादप्यवेद्यतयैवाऽऽत्मनो ज्ञानमित्याह — यत्र त्वस्येति। एवमाद्यपीति। वेद्यत्वं निषेधतीति शेषः।

तस्मादात्मनः कर्तृत्वादिधर्मवत्तया प्रमाणेन ज्ञातुमशक्यत्वात्तद्धर्मवत्त्वप्रतीतेरज्ञानमूलत्वेन भ्रमत्वात्संसारित्वेन प्रतीतस्य वस्तुतो ब्रह्ममात्रत्वादेनैव न्यायेनेश्वरस्यापि [4]सर्वज्ञत्वादिकोपाधिकल्पनस्य भ्रमत्वाद्भेदे मानाभावात्तस्यापि वस्तुतो ब्रह्ममात्रत्वान्न त्रय आत्मानः किंत्वात्मैक एवाखण्डैकरस इत्यभिप्रेत्यैवंभूतस्य कथं संसारप्रतीतिरित्याशङ्क्याऽऽत्मनः संसारस्या[5]ज्ञानत औपाधिकत्व-मुत्तराध्यायसंगत्युपयोगितयाऽऽह — यावदयमिति। बाह्यानित्यदृष्टिलक्षणमिति। प्रत्यगात्मनो बाह्यमन्तः-करणवृत्तिं वृत्तिवृत्तिमतोरभेदादन्तःकरणमित्यर्थः।

हैं? बस उसी के समान आपका वह वचन है तू अमनुष्य नहीं है। ऐसा कहने पर जो पुरुष अपना मनुष्यत्व नहीं समझता, "वह तू मनुष्य है" ऐसा कहने पर भी अपना मनुष्यत्व कैसे समझ सकेगा?

अतः जैसे शास्त्र का उपदेश है तदनुसार ही आत्मसाक्षात्कार का विधान है, उससे भिन्न नहीं। अग्नि से दग्ध होने योग्य तृणादि को किसी अन्य वस्तु से नहीं जला सकते। इसीलिए आत्मस्वरूप के बोध कराने हेतु प्रवृत्त हुआ शास्त्र अमनुष्यत्व प्रतिषेध के समान "नेति नेति" ऐसा कहकर चुप हो गया है। इसी प्रकार "अन्तर्बाह्य भाव से रहित" "यह आत्मा सबका अनुभव करने वाला

---

१. अयमात्मा सर्वानुभूरित्येतेषां पदानाम् — परोक्षभिन्नः परिच्छिन्नभिन्नः असर्वभिन्नः जडभिन्नः इति प्रकरणानुसार्य्यर्थाः। २. तस्यात्मनोऽयमेवोपदेशप्रकार इत्यन्वयः। ३. कर्तृत्वादिनिषेधेनैवेत्यादि — तत्पदसामानाधिकरण्यं समानाधिकरणं तत्पदमित्यर्थः। तच्च त्वमर्थे कर्तृत्वाद्यभावबोधने तात्पर्यग्राहकं ततश्च त्वयि कर्तृत्वादि नासतीति वाक्यार्थः। कर्तृताद्युभावाच्च तदर्थब्रह्मैव त्वमिति फलतीति भावः। ४. सर्वज्ञत्वादिकेति — सर्वज्ञत्वादिकमेवोपाधिर्भेदनिमित्तं तत्कल्पनस्य सर्वज्ञत्वादिके वा य उपा-धिर्मायाख्यस्तत्कल्पनस्येत्यर्थः। ५. अज्ञानत इति — अज्ञाननिबन्धनत्वादिति यावत्। अज्ञानजन्यान्तःकरणाद्युपाधिकत्वादिति वार्थः।

(अपक्रामन्तु गर्भिण्यः)

ॐ पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति यदेतद्रेतः। तदेतत्सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः संभूतमात्मन्येवाऽऽत्मानं बिभर्ति तद्यदा स्त्रियां सिञ्चत्यथैनज्जनयति तदस्य प्रथमं जन्म।।१।।

सबसे पहले यह (संसारी जीव रसादि क्रम से शुक्ररूप से) पुरुषशरीर के भीतर ही गर्भरूप में होता है। यह जो प्रसिद्ध वीर्य है, वह पुरुष के सम्पूर्ण अवयवों से उत्पन्न हुआ सारभूत तेज है। वह पुरुष इस अपने आत्मरूप तेज को अपने शरीर में ही पोषण करता है, फिर जिस समय वह पुरुष अपने गर्भरूप से उत्पन्न शुक्र को स्त्री में सींचता है,.तब इसे वह उत्पन्न करता है (इस प्रकार रेतः सिञ्चन समय शुक्र रूप से अपने स्थान से निकलना ही) इस संसारी पुरुष का पहला जन्म है।।१।।

मात्मत्वेनोपेत्याविद्ययोपाधिधर्मानात्मनो मन्यमानो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तेषु देवतिर्यङ्नरस्थानेषु पुनः पुनरावर्तमानोऽविद्याकामकर्मवशात्संसरति।

स एवं संसरन्नुपात्तदेहेन्द्रियसंघातं त्यजति। त्यक्त्वाऽन्यमुपादत्ते। पुनः पुनरेवमेव नदीस्रोतोवज्जन्ममरणप्रबन्धाविच्छेदेन वर्तमानः काभिरवस्थाभिर्वर्तत इत्येतमर्थं दर्शयन्त्याह श्रुतिर्वैराग्यहेतो :—

एवमध्यारोपवादाभ्यामात्मतत्त्वं निरूप्योक्तात्मतत्त्वज्ञाने वैराग्यं हेतुरिति तदर्थं जीवावस्थाः प्रपञ्चयन्नर्थात्तस्य त्रय आवसथा इत्युपक्षिप्तं शरीरत्रयं च प्रपञ्चयितुं पञ्चमाध्यायमवतारयन्भूमिकां करोति – स एवमिति। यावदयमित्यारभ्य वोत्तराध्यायस्य भूमिका। इदानीमध्यायमवतारयति – स एवमिति। इत्येतमर्थमिति। इति जिज्ञासायामवस्थारूपमर्थमित्यर्थः। वैराग्यहेतोरिति। वैराग्यार्थमित्यर्थः। जीवावस्थारूपस्य जन्मत्रयस्यात्यन्तबीभत्सारूपत्वात्तद्विचारे वैराग्यं भवतीति भावः। पुरुषे ह वा

ब्रह्मस्वरूप है" इत्यादि भी शास्त्र का उपदेश है तथा "वह तू है" "जहाँ इसके लिए सब कुछ आत्मा ही हो जाता है, वहाँ किससे किसको देखे" इत्यादि ऐसे ही अन्य श्रुति वाक्य भी यही कहते हैं।

यह जीव जब तक पूर्वोक्त आत्मा को "यह ऐसा है" इस प्रकार नहीं जानता तब तक यह बाह्य अनित्य दृष्टिरूप उपाधि को आत्मभाव से ग्रहण कर अविद्या के वशीभूत हुआ उपाधि के धर्मों को आत्मा के धर्म मानकर ब्रह्मादि स्तम्बपर्यन्त तक देव, पशु, पक्षी, और मनुष्य योनियों में बारम्बार चक्कर लगाता अविद्या, कामना और कर्म के अधीन होकर जन्म-मरणादिरूप संसार को प्राप्त होता रहता है।

वह इस प्रकार संसरणशील जीव पूर्वप्राप्त देह और इन्द्रिय-संघात को त्याग देता है और एक को त्याग कर दूसरे को ग्रहण कर लेता है। इसी प्रकार नदी की धारा के समान जन्म-मरण परम्परा का विच्छेद न होने से वह किन-किन अवस्थाओं में रहता है। बस इस बात को वैराग्य उत्पन्न कराने के लिए दिखलाती हुई श्रुति कहती है।

अयमेवाविद्याकामकर्माभिमानवान्यज्ञादिकर्म कृत्वाऽस्माल्लोकाद्धूमादिक्रमेण चन्द्रमसं प्राप्य क्षीणकर्मा वृष्ट्यादिक्रमेणेमं लोकं प्राप्यान्नभूतः पुरुषाग्नौ हुतः। तस्मिन्पुरुषे ह वा अयं संसारी [1]रसादिक्रमेणाऽऽदितः प्रथमतो रेतोरूपेण गर्भो भवतीत्येतदाह। यदेतत्पुरुषे रेतस्तेन रूपेणेति।

तच्चैतद्रेतोऽन्नमयस्य पिण्डस्य सर्वेभ्योऽङ्गेभ्योऽवयवेभ्यो रसादिलक्षणेभ्यस्तेजः साररूपं शरीरस्य संभूतं परिनिष्पन्नं तत्पुरुषस्या[2]ऽऽत्मभूतत्वादात्मा। तमात्मानं रेतोरूपेण गर्भीभूतमात्मन्येव स्वशरीर एवांऽऽत्मानं बिभर्ति धारयति। तद्रेतो यदा

अयमित्यत्रेदंशब्दार्थमाह — अयमित्यादिना। यो मूर्धानं विदार्य प्रविश्य स्थितः सोऽयमित्युच्यत इत्यर्थः। यज्ञादीति। अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवन्तीत्यादिना पञ्चाग्निविद्यायामयमर्थः प्रसिद्धः। अन्नभूत इति। व्रीह्याद्यन्नसंश्लिष्टः पुरुषाग्नौ हुतः पुरुषेण भक्षित इत्यर्थः। तस्मिन्निति। येन पुरुषेण भक्षितस्तस्मिन्नित्यर्थः। [3]पुरुषे ह वा अयं संसार्यादितः प्रथमतः स्त्रीगर्भप्रवेशात्पूर्वं गर्भो भवतीति प्रथममन्वयः। पुरुषे स्त्रियामिव गर्भो न दृश्यत इत्याशङ्क्य भक्षितस्यान्नस्य रसादिक्रमेण रेतोरूपेण परिणामे सति तत्संश्लिष्टस्यापि तथैव रेतःसंश्लेषेण रेतोभावे सति तेन रूपेण पुरुषस्य शरीरे विद्यमानस्तस्य स गर्भ इत्याह — रसादीति। रसादीत्यादिशब्देन शोणितमांसादि गृह्यते। रसादिक्रमेण यदेतत्पुरुषे रेतस्तेन रूपेण गर्भो भवतीत्येतदाहेति पश्चादन्वयः कार्यः।

ननु तस्य गर्भत्वमप्रसिद्धमित्याशङ्क्य स्त्रियेव तस्य पुरुषेण भृतत्वाद्गौण्या वृत्त्या गर्भत्वमिति वक्तुं तदेतदित्यादि बिभर्तीत्यन्तं वाक्यम्। तद्व्याचष्टे — तच्चैतदिति। रसादिलक्षणेभ्य इति। रसादिधातुसमुदायरूपत्वाच्छरीरस्य तेषां तदवयवत्वं चरमधातुत्वा[4]च्छरीरस्य साररूपत्वं चेत्यर्थः। आत्मभूतत्वादिति। आत्माभिमानविषयशरीरभूतत्वादात्मानं गर्भीभूतं बिभर्तीति वक्ष्यमाणानुषङ्गेण वाक्यं पूरणीयम्। उक्तमर्थं श्रुत्यक्षरारूढं करोति — आत्मनीति। अत आत्मानमित्यस्य न पुनरुक्तिदोषः। एवं पितृशरीररूपमावसथं तत्र रेतोरूपेणावस्थां चोक्त्वा मातृदेहरूपावसथं तत्र गर्भरूपेणावस्थां च दर्शयितुं पितृशरीरान्निर्गमनरूपं जन्म दर्शयति — तद्रेति इति। यदेत्युक्तं कालं विशदयति — भार्येति। पञ्चा-

पुरुष का पहला जन्म

अविद्या, काम और कर्म जनित अभिमान वाला यह जीव ही यज्ञादि कर्म का अनुष्ठान कर इस लोक से धूमादि क्रमेण चन्द्रलोक को प्राप्त हो कर्मों के क्षीण हो जाने पर वृष्टि आदि क्रम से इस लोक को प्राप्त होकर अन्न रूप से पुरुषरूप अग्नि में हवन किया जाता है। उस पुरुष में यह संसरण शील जीव रसादि क्रम से सर्वप्रथम शुक्ररूप से गर्भ होता है। इसी बात को "यह जो पुरुष में शुक्र है, उस रूप से गर्भ होता है" इस वाक्य से बतलाया गया है।

१. रसादिक्रमेणेति — स चायं क्रमः—अन्नाद्रसो रसाद्रुधिरं ततो मांसं ततो मेदस्ततो मज्जा ततोऽस्थि ततो रेत इति। २. आत्मभूतत्वादित्यत्र आत्मभूतत्वादात्मानं रेतोरूपेणेत्येव टीकाऽभिमतः पाठः। ३. एकवाक्यत्वासंभवाद्वाक्यभेदेन भाष्यं योजयितुकामोऽत्रान्वयद्वयमाह — पुरुषे ह वा इत्यादिना। ४. शरीरस्य साररूपत्वमिति—शरीरसंबन्धि सारत्वं रेतस इत्यर्थः।

[1]तत्स्त्रिया [2]आत्मभूयं गच्छति यथा स्वमङ्गं तथा तस्मादेनां न हिनस्ति सा[3]ऽस्यैतमात्मानमत्र गतं भावयति।।२।।

जिस प्रकार अपने अङ्ग स्तनादि होते हैं उसी प्रकार यह वीर्य भी स्त्री के आत्मभाव को प्राप्त हो जाता है। इसीलिए वह गर्भ उसे कष्ट नहीं पहुँचाता। वह गर्भिणी अपने उदर में प्रविष्ट हुए उस पति के इस आत्मा का (अनुकूल भोजनादि के द्वारा) पोषण करती है।।२।।

यस्मिन्काले भार्यर्तुमती तस्यां योषाग्नौ स्त्रियां सिञ्चत्युपगच्छन्। अथ तदैनदेतद्रेत आत्मनो गर्भभूतं जनयति पिता। [4]तदस्य [5]पुरुषस्य स्थानान्निर्गमनं रेतःसेककाले रेतोरूपेणा[6]स्थ संसारिणः प्रथमं जन्म [7]प्रथमावस्थाभिव्यक्तिः, तदेतदुक्तं पुरस्ताद्—'असावात्माऽमुमात्मानम्' (ऐ. आ. २-३-७) इत्यादिना।।१।।

तद्रेतो यस्यां स्त्रियां सिक्तं तस्या आत्मभूयमात्मा[8]व्यतिरेकतां यथा पितुरेवं गच्छति प्राप्नोति यथा स्वमङ्गं [9]स्तनादि तथा तद्वदेव। [10]तस्माद्धेतोरेनां मातरं स गर्भो

ग्निविद्यायां योषा वाव गौतमाग्निरित्यादिनाऽयमर्थो दर्शित इति वक्तुं योषाग्नावित्युक्तम्। उपगच्छन्निति। भार्यां संगच्छन्नित्यर्थः। अस्य रेतोरूपेण स्थानान्निर्गमनमित्यन्वयः। रेतो भार्यायां सिञ्चतीत्यत्र वाक्यान्तरं संवादयति — तदेतदिति। असावात्मा पुरुषोऽमुमात्मानं स्वीयं रेतोरूपमात्मानमस्मा आत्मने भार्यारूपाय प्रयच्छतीति श्रुत्यर्थः।।१।।

ननु स्त्रीशरीरे प्रविष्टं पुरुषस्य रेतः स्त्रिया उपद्रवकारि स्याच्छरीरलग्नबाणवदित्याशङ्क्योक्तं तत्स्त्रिया इत्यादि तदेतद्व्याचष्टे — तद्रेतो यस्यामिति। पिटका [11]व्रणरूपग्रन्थि-

---

वही यह शुक्र अन्नमय पिण्ड के रसादिरूप सम्पूर्ण अवयवों से शरीर का सारभूत तेज निष्पन्न होता है। पुरुष का आत्मभूत होने के कारण वह आत्मा है। शुक्ररूप से गर्भीभूत उस आत्मा को पुरुष अपने शरीर में ही पुष्ट करता रहता है। जब भार्या ऋतुमती होती है, तब पिता उस शुक्र को स्त्री रूप अग्नि में उससे संयोग करके सींचता है अर्थात् उस समय वह पुरुष उस शुक्र को अपने गर्भरूप से उत्पन्न करता है। इस प्रकार रेतः सिंचन काल में शुक्ररूप से अपने स्थान से निकलते ही इस संसारी पुरुष का प्रथम जन्म है अर्थात् प्रथमा अवस्था की अभिव्यक्ति है। यही बात "असावात्मा अमुमात्मानम्" इत्यादि वाक्य से पहले कही जा चुकी है।।१।।

जिस स्त्री में वह शुक्र सींचा जाता है, उस स्त्री के शरीर से अभिन्नता को वह वैसे ही प्राप्त हो जाता है जैसे पिता के शरीर के साथ अभिन्नता। तत्पश्चात् जैसे अपने अंग स्तनादि होते हैं, उसी

---

१. जीवसंसृष्टं रेतः। २. शरीरभावम्। ३. अस्य रेतःसेक्तुः। ४. अस्येति पूर्वोत्तरोभयान्वयीत्याशयेनाह — तदस्येत्यादि। अस्य संसारिणस्तत्स्थानान्निर्गमनमित्यन्वयः। ५. स्थानं विशिनष्टि — पुरुषस्येति। पितृशरीरस्थाद्रेतःस्थानादित्यर्थः। ६. प्रथमं जन्मेत्यत्रान्वयप्रदर्शनार्थं पुनरुपादत्ते — अस्येति। ७. प्रथमेत्यादि — पितृशरीररूपप्रथमावसथेऽवस्थितिरभिव्यज्यत इति यावत्। ८. स्त्रीशरीराभेदताम्। ९. सादृश्याय वर्धनशीलमेव दृष्टान्तयति — स्तनादीति। १०. तस्माद्धेतोः— मातृशरीराव्यतिरेकात्। ११. व्रणेत्यादि स्फोटा इत्यर्थः।

सा भावयित्री भावयितव्या भवति तं स्त्री गर्भं बिभर्ति सोऽग्र एव कुमारं जन्मनोऽ[1]ग्रेऽधिभावयति। स [2]यत्कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधि[3]भावयत्या[4]त्मानमेव[5]तद्भावयत्ये[6]षां लोकानां संतत्या एवं [7]संतता हीमे लोकास्तदस्य द्वितीयं जन्म।।३।।

(गर्भरूप पति के आत्मा का) पालन करने वाली वह गर्भिणी स्त्री अपने स्वामी द्वारा पालनीया होती है। प्रसव होने से पूर्व गर्भिणी स्त्री उस गर्भ का पोषण करती है, तब वह पिता गर्भरूप से उत्पन्न हुए प्रसव के अनन्तर सद्योजात उस कुमार को जातकर्मादि से संस्कृत करता है। जन्म के बाद वह जो कुमार का संस्कार करता है, वह इस प्रकार पुत्र-पौत्रादि लोकों के विस्तार से अपना ही संस्कार करता है, क्योंकि इस प्रकार (पुत्रोत्पादनादि परम्परा के चलते रहने से) इन लोकों की वृद्धि होती है। यही इस संसारी पुरुष का द्वितीय जन्म है।।३।।

न हिनस्ति पिटकादिवत्। यस्मात्स्तनादिस्वाङ्गवदात्मभूयं गतं तस्मान्न हिनस्ति न बाधत इत्यर्थः। साऽन्तर्वत्न्येत[8]मस्य भर्तुरा[9]त्मानमत्राऽऽत्मन उदरे गतं प्रविष्टं बुद्ध्वा भावयति वर्धयति परिपालयति गर्भविरुद्धाशनादिपरिहारमनुकूलाशनाद्युपयोगं च कुर्वती।।२।।

सा भावयित्री वर्धयित्री भर्तुरात्मनो गर्भभूतस्य भावयितव्या रक्षयितव्या च भर्त्रा भवति। न ह्युपकारप्रत्युपकारमन्तरेण लोके कस्यचित्केनचित्संबन्ध उपपद्यते।

विशेषास्तद्वन्न हिनस्तीति व्यतिरेकेण दृष्टान्तः। अक्षरार्थमुक्त्वा पिण्डितार्थमाह — यस्मादिति। अत्र प्रसङ्गात्स्त्रिया [10]सावधानेन गर्भरक्षणं कर्तव्यमिति [11]विधत्ते — सेति। भावयति भावयेदित्यर्थः। पालनोपायमाह — गर्भविरुद्धेति।।२।।

तस्याप्यन्तर्वत्नीरक्षणं विधत्ते — सा भावयित्रीति। चशब्दस्य सेत्यत्र संबन्धः। साऽपीत्यर्थः। तस्या भावयितव्यत्वे हेतुमाह — न हीति। स्त्रीपुरुषयोः परस्परोपकारकत्वमुक्त्वा तयोः पुत्र-

---

प्रकार पति की आत्मा शुक्ररूप से अभिसिंचित वह गर्भ भी हो जाता है। इसीलिए वह गर्भ आन्तरिक व्रणरूप ग्रन्थि आदि की भाँति उस माता को कष्ट नहीं देता क्योंकि वह स्तनादि अपने अंगों की भाँति शरीर से अभिन्न हो जाता है। इसीलिये वह किसी भी प्रकार की बाधा नहीं पहुंचाता, यह इसका अभिप्राय है। वह गर्भिणी स्त्री इस अपने पति के आत्मा को यहाँ पर अपने शरीर में प्रविष्ट हुआ जान गर्भ के विरोधी भोजनादि का परित्याग कर अनुकूल भोजनादि का उपयोग करती हुई उसका

---

१. अग्रे प्रसवकालाव्यवहितपूर्वक्षण इत्यर्थः। २. येन शास्त्रीयसंस्कारेणेत्यर्थः। ३. संस्करोति। ४. स्वशरीरमेव। ५. तत् — तेन यथोक्तेन शास्त्रीयसंस्कारेणेत्यर्थः। ६. एषां प्रसिद्धानाम्। लोकानां लोकसाधनीभूतानां पुत्रपौत्रादीनामित्यर्थः। ७. संतत्या-अविच्छेदाय। ८. प्रसिद्धम्। ९. पुत्रत्वापन्नभर्तृस्वरूपमित्यर्थः। १०. सावधानेन मनसेति शेषः। ११. विधत्त इति — अपक्रामन्तु गर्भिण्य इत्युक्तस्य सांप्रदायिकत्व इदमसङ्गतमस्य तथात्वे तु तत्प्रक्षिप्तमित्यवगम्यते।

तं गर्भं स्त्री यथोक्तेन गर्भधारणविधानेन बिभर्ति धारयत्यग्रे प्राग्जन्मनः। स पिताऽग्र एव पूर्वमेव जातमात्रं जन्मनोऽध्यूर्ध्वं जन्मनो जातं कुमारं जातकर्मादिना पिता भावयति।

स पिता [1]यद्यस्मात्कुमारं जन्मनोऽध्यूर्ध्वमग्रे जातमात्रमेव जातकर्मादिना यद्भावयति तदात्मानमेव भावयति पितुरात्मैव हि पुत्ररूपेण जायते। तथा ह्युक्तं "पतिर्जायां प्रविशति" इत्यादि। तत्किमर्थमात्मानं पुत्ररूपेण जनयित्वा भावयतीति। उच्यते—एषां लोकानां संतत्या अविच्छेदायेत्यर्थः। विच्छिद्येरन्हीमे लोकाः पुत्रोत्पादनादि यदि न कुर्युः केचन। एवं पुत्रोत्पादनादिकर्माविच्छेदेनैव संतताः प्रबन्धरूपेण वर्तन्ते

साध्यवक्ष्यमाणपुण्य[2]कर्मप्रतिनिधित्वरूपप्रत्युपकारसिद्ध्यर्थं पुत्रं प्रत्युपकारकत्वमाह — तमिति। अग्र इत्यत्रैकोऽग्रशब्दो जन्मनः पूर्वकालं वदति। द्वितीयो जननकालमधिशब्दोऽनन्तरकालं वदतीति व्याचष्टे — अग्रे प्राग्जन्मन इत्यादिना। पूर्वमेवेत्यस्य विवरणं जातमात्रमिति। जायमानमित्यर्थः। जातकर्मादिनेति। जन्मनः प्राक्सीमन्ता[3]दिना जननकाले सुखनिष्क्रमणार्थं मन्त्रजलप्रोक्षणादिनाऽनन्तरं जातकर्मादिनेत्यर्थः।

पित्रा जातकर्मादिकं कर्तव्यमित्यभिधाय तत्स्तौति — स पितेति। प्रविशतीत्यादीति। गर्भो भूत्वा स मातरम्। तस्यां पुनर्नवो भूत्वा दशमे मासि जायत इति मन्त्रशेषः। मोक्षप्रकरणे पुत्रोत्पादनस्य विधानात्पुत्रोत्पादनं मोक्षसाधनमित्यभिप्रायेण पृच्छति — तत्किमर्थमिति। न कर्मणा न प्रजया धनेनेत्यादिश्रुतेर्मोक्षप्रकरणे पुत्रोत्पादनोक्तिर्वैराग्यार्थेत्यभिप्रेत्य प्रकृतश्रुत्योत्तरमाह — उच्यत इति। अत्र लोकशब्देन लोकसाधनीभूताः पुत्रपौत्रादयो गृह्यन्ते। तेषां संतत्या इत्यर्थः। पुत्रोत्पादनेनैवोक्तानां लोकानां संततत्वं प्रसिद्धमिति वक्तुमेवं संतता हीति वाक्यं तद्व्याचष्टे — एवमिति। स्वेन पुत्रोत्पादने विधितः कृते सति स्वपुत्रोऽपि तथा तत्पुत्रोऽपि तथेत्येवं लोकसंततिर्भवतीत्यर्थः। पुत्रोत्पादनस्य लोक-

---

पालन करती है।।२।।

पुरुष का दूसरा जन्म

गर्भरूप पति के आत्मा की वृद्धि करने वाली वह स्त्री अपने पति द्वारा पालनीया हो जाती है क्योंकि उपकार प्रत्युपकार के बिना किसी के साथ किसी का सम्बन्ध लोक में सिद्ध नहीं हो सकता। जन्म होने से पूर्व वह स्त्री गर्भ धारण की यथोक्त विधि से उस गर्भ को पुष्ट करती है।

तथा वह पिता जो जन्म के पश्चात् उस सद्योजात कुमार को जातकर्मादि द्वारा संस्कृत करता है, वह मानो अपना ही संस्कार करता है, क्योंकि पिता का अपना आत्मा ही पुत्ररूप से उत्पन्न होता है। यह बात "पति ही पत्नी में प्रविष्ट होता है" इत्यादि वाक्यों द्वारा कही गयी है। पुत्ररूप से अपने को उत्पन्न कर पिता क्यों संस्कार करता है? इस पर कहते हैं इन लोकों के विस्तार के लिए अर्थात् संतति परम्परा अविच्छेद के लिए यदि कोई पुत्र-उत्पादन आदि न करें तो ये लोक विच्छिन्न हो जाएँ, इस प्रकार पुत्र-उत्पादनादि कर्मों का विच्छेद न होने के कारण ही ये लोक वृद्धि को प्राप्त

---

१. यद्यस्मादित्यधिकं भाति स्थितेत्वस्मिंस्तत्पदं तस्मादिति व्याख्येयम्। २. कर्मानुष्ठानार्थं प्रतिनिधिरित्यर्थः।
३. आदिना — अनवलोभनपुंसवनादिसंस्कारविशेषा ग्राह्याः।

सोऽस्यायमात्मा[1] पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयते।
[2]अथास्यायमितर[3] आत्मा[4] कृतकृत्यो[5] वयोगतः प्रैति स
इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते तदस्य तृतीयं जन्म।।४।।

इस पिता का वह पुत्ररूप आत्मा शास्त्रोक्त पुण्यकर्मों के संपादन के लिये (घर में पिता के स्थान पर) प्रतिनिधिरूप से स्थापित किया जाता है। तदनन्तर इस पुत्र का अन्य पितारूप आत्मा वृद्ध हो जाने पर कृतकृत्य होकर यहाँ से प्रस्थान करने के बाद वह (कर्मफल भोग के लिये) फिर जन्मधारण करता है, यही इसका तीसरा जन्म है।।४।।

हि यस्मादिमे लोकास्तस्मात्तदविच्छेदाय [6]तत्कर्तव्यं न मोक्षायेत्यर्थः। तदस्य संसारिणः कुमाररूपेण मातुरुदराद्यन्निर्गमनं तद्रेतोरूपापेक्षया द्वितीयं जन्म [7]द्वितीयावस्थाभिव्यक्तिः।।३।।

अस्य पितुः सोऽयं पुत्रात्मा पुण्येभ्यः शास्त्रोक्तेभ्यः कर्मभ्यः [8]कर्मनिष्पादनार्थं प्रतिधीयते पितुः स्थाने पित्रा यत्कर्तव्यं तत्करणाय [9]प्रतिनिधीयत इत्यर्थः। तथा च

संततिरेव प्रयोजनमिति वदन्त्या श्रुत्या तस्य मोक्षसाधनत्वं निरस्तमित्याह – न मोक्षायेत्यर्थ इति। एवं प्रसङ्गाद्गर्भेधारणादिविधिमुक्त्वा प्रकृतं वैराग्यार्थं द्वितीयं जन्म दर्शयति – तदस्येति।।३।।

एवं पितृशरीरेऽत्यन्ताशुचावत्यन्ताशुचिरेतोरूपेणावस्थानं ततोऽपि निर्गमनं ततो मातुरुदरे मलमूत्राक्रान्ते विष्ठाकृमिवदवस्थानं ततो योनिद्वारा निर्गमनं चेत्याद्यत्यन्तकष्टमित्युक्त्वा जन्मानन्तरमपि न स्वातन्त्र्यं किंतु पितृनियोगात्तत्पारतन्त्र्येण सर्वदा कर्मानुष्ठातव्यमिति वदन्पुत्रेण कर्तव्यं पितुरुपकारं दर्शयति [10]सोऽस्येति [11]तद्व्याचष्टे – अस्येति। पितुर्द्वावात्मानौ देहौ स्वदेहः पुत्रदेहश्चेति तत्र पुत्रस्यो[12]पयोगमाह – सोऽयमिति। पुत्रस्य प्रतिनिधित्वमन्यत्राप्युक्तमित्याह – तथा चेति। संप्रत्तिः संप्रदानं

होकर प्रभाव रूप से बने रहते हैं। अतः उनके अविच्छेद के लिए उस पुत्र-उत्पादनादि कर्म को करे, मोक्ष के लिए नहीं, यही इसका तात्पर्य है। इस प्रकार कुमाररूप से जो माता के उदर से बाहर आना है वही इस संसारी जीव का पूर्वोक्त रेतोरूप जन्म की अपेक्षा दूसरा जन्म माना गया है क्योंकि इस दशा में ही इसकी द्वितीय अवस्था की अभिव्यक्ति होती है।।३।।

पुरुष का तीसरा जन्म

इस पिता का वही पुत्ररूप आत्मा शास्त्रोक्त पुण्यकर्मों के सम्पादनार्थ पिता के स्थान पर प्रतिनिधरूप से स्थापित किया जाता है अर्थात् पिता को जो कुछ करना चाहिए था, उसके सम्पाद-

---

१. आत्मा पुत्रदेहः। २. अथ – प्रतिनिधिकरणानन्तरम्। ३. इतरः–पुत्रदेहादन्यः। ४. पितृशरीरं स्थविरम्। ५. कृत्यम् – ऋणत्रयमोचनरूपं कृतं येनेति विग्रहः। ६. तत् – विधितः पुत्रोत्पादनम्। ७. द्वितीयेत्यादि – मातृशरीररूपद्वितीयावसथाऽवस्थित्यभिव्यक्तिरिति यावत्। ८. अग्निहोत्रादीत्यर्थः। ९. प्रतिनिधित्वेन स्थाप्यते। १०. सोऽस्येतीति सोऽस्येत्यादिवाक्येनेत्यर्थः। ११. तत् वाक्यम्। १२. उपयोगम् प्रतिनिधित्वरूपं फलमुपयोगः।

संप्रत्तिविद्यायां वाजसनेयके — पित्राऽनुशिष्टः 'अहं ब्रह्माहं यज्ञः' (बृ. १-५-१७) इत्यादि प्रतिपद्यत इति।

अथानन्तरं पुत्रे निवेश्याऽऽत्मनो भारमस्य[१] पुत्रस्येतरोऽयं यः पित्रात्मा कृतकृत्यः कर्तव्याद्दृणत्रयाद्विमुक्तः कृतकर्तव्य इत्यर्थः। वयोगतो गतवया जीर्णः सन्प्रैति म्रियते। [२]स इतो[३]ऽस्मात्प्रयन्नेव शरीरं परित्यजन्नेव तृणजलूकावद्देहान्तरमुपाददानः

स्वकर्तव्यस्य पुत्रे स्थापनं यत्रोच्यते सा संप्रत्तिविद्येत्यर्थः। यदा तु प्रैष्यन्मन्यते स्वस्य परलोकगमनं निश्चिनोति, अथ पुत्रमाह — त्वं ब्रह्म त्वं यज्ञस्त्वं लोक इति। मयाऽध्येतव्यं ब्रह्म वेदस्त्वं त्वयाऽध्येतव्यम्, मया कर्तव्यो यज्ञस्त्वं त्वया कर्तव्यः, मया संपाद्योऽयं लोकस्त्वं त्वा [४]संपाद्यः, इत्येवं पित्राऽनुशिष्टः सन्पुत्रोऽहं ब्रह्माहं यज्ञोऽहं लोक इति प्रतिपद्यते। अहं ब्रह्माध्येष्ये यज्ञान्करिष्ये लोकं संपादयिष्यामीति स्वीकरोतीत्युक्तमित्यर्थः। [५]अनेन स्वशरीर[६]तृतीयावस्थोक्ता।

ननु किमर्थं पुत्रं प्रतिनिदधाति स्वयमेव करोत्वित्याशङ्क्य स्वस्य [७]मरणात्कर्तुमशक्तेरित्यभिप्रायेणोक्तमथास्यायमिति तद्व्याचष्टे — अथेति। एवकारार्थं मध्ये विलम्बाभावं दर्शयति — तृणजलूकेति। तृणजलूका तृणस्यान्तं गत्वा तृणान्तरमाक्रम्याऽऽत्मानं देहं पर्वूस्मात्तृणादुपसंहरति पूर्वतृणं मुञ्चति। एवमेवायमात्मा देहान्तरं परिगृह्य पूर्वदेहं मुञ्चतीति मध्ये विलम्बाभावः श्रुत्यन्तर उक्त इत्यर्थः। कर्मचितं देहान्तरमुपाददानः पुनर्जायत इत्यन्वयः। यद्यपि देवयानपितृयाणमार्गाभ्यां [८]गच्छतां लोकान्तर एव शरीरग्रहणमुक्त[९]मुभयव्यामोहात्तत्सिद्धेरिति सूत्रे। आकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजेति श्रुतेः। न तु पूर्वदेहत्यागकाल एव तथाऽपि [१०]सवज्ञिानो भवति [११]सविज्ञानमेवान्ववक्रामतीति

नार्थ यह प्रतिनिधि माना जाता है। यही बात बृहदारण्यकोपनिषत् के सम्प्रत्ति-विद्या प्रकरण में पिता द्वारा शिक्षित पुत्र कहता है "मैं ब्रह्म हूँ, मैं यज्ञ हूँ" इत्यादि।

इसके बाद पुत्र पर अपना भार डालकर इस पुत्र का यह पितारूप दूसरा आत्मा कृत-कृत्य हो जाता है अर्थात् कर्तव्यरूप ऋणत्रय से मुक्त होकर यानी अपना कर्तव्य पालन कर वृद्ध होने पर मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। वह यहाँ से प्रस्थान करता हुआ तिनके की जोंक आदि के समान कर्म से प्राप्त अन्य देह में जाकर पुनः जन्म लेता है। जो इसे मरने पर प्राप्त हुआ करता है, वही इसका तीसरा जन्म है। शंका :- पिता से वीर्यरूप में संसारी जीव का पहला जन्म बतलाया। कुमाररूप में माता से उसी का दूसरा जन्म कहा गया। अब उसी का तीसरा जन्म बतलाते समय उसके मृत पिता को

---

१. अस्य पुत्रस्येति — अत्र दीपिकाकृता व्याख्यातम्-अस्य पितुरितर आत्मा स्थविरो देह इति तदेतद्युक्तम्। २. सः-वृद्धः पिता। ३. जीर्णदेहात्। ४. संपाद्य इति — लोके पुत्राद्युत्पादनद्वारा नामस्थितिसम्पादनं लोकसम्पादनम्। ५. अनेन पुत्रस्य प्रतिनिधित्वकथनेनेत्यर्थः ६. तृतीयावस्था पुत्रस्य स्वशरीररूपतृतीयाऽऽवसथेऽवस्थितिरिति द्रष्टव्यं प्रतिनिधित्वानन्तरं स्वातन्त्र्यादिह तदुक्तिरित्यवेधेयम्। ७. मरणात् — मरणोन्मुखत्वादित्यर्थः। ८. गच्छताम् — कर्मिणामुपासिनां चेत्यर्थः। ९. उभयेत्यादि — मार्गतद्गन्त्रोर्व्यामोहादज्ञत्वात्तत्सिद्धेः गमयितृदेवतासिद्धेरितिसूत्रार्थः। १०. सविज्ञान इति — वासनामयशरीरविषयकवासनामयविज्ञानसहितो भवतीत्यर्थः। ११. सविज्ञानमेवेत्यादि — उक्तविज्ञानविषयं गन्तव्यदेहमनुगच्छतीत्यर्थः।

कर्मचितं पुनर्जायते। तद[1]स्य मृत्वा प्रतिपत्तव्यं यत्तत्तृतीयं जन्म। ननु [2]संसरतः पितुः सकाशाद्रेतोरूपेण प्रथमं जन्म। तस्यैव कुमाररूपेण [3]मातुर्द्वितीयं जन्मोक्तम्। तस्यैव तृतीये जन्मनि वक्तव्ये प्रयतः पितुर्यज्जन्म तत्तृतीयमिति कथमुच्यते। नैष दोषः। पितापुत्रयोरैकात्म्यस्य विवक्षितत्वात्। सोऽपि पुत्रः स्वपुत्रे भारं निधायेतः। प्रयन्नेव पुनर्जायते यथा पिता। [4]तदन्यत्रोक्तमि[5]तरत्राप्युक्तमेव भवतीति मन्यते श्रुतिः। पितापुत्रयोरेकात्मत्वात्।।४।।

श्रुतौ वासनामयं भाविशरीरमुत्क्रान्तिकाल एव गृह्णातीत्युक्तत्वात्तदभिप्रायं [6]तृणजलूकानिदर्शनमिति द्रष्टव्यम्। तदस्येति। यन्मृत्वा प्रतिपत्तव्यं तदस्य तृतीयं जन्मेत्यन्वयः। यस्य जन्मद्वयमुक्तं तस्यैव तृतीयं जन्म वक्तव्यम्। [7]औचित्यात्। अन्यथाऽस्य पितुः पूर्वजन्मद्वयस्यानुक्तत्वेनेदमस्य पितुस्तृतीयं जन्मेत्य[8]नन्वयापत्तेरिति शङ्कते — नन्विति। प्रयतं इति। म्रियमाणस्येत्यर्थः। यत्कुमारं भावयत्यात्मानमेव तद्भावयति सोऽस्यायमात्मेति च पितापुत्रयोरभेदस्योक्तत्वात्पुत्रस्योक्तं जन्मद्वयं पितुरेव तस्यैव च तृतीयं जन्मोच्यते नान्यस्येति न तृतीयत्वविरोध इत्याह — नैष दोष इति। यद्वा पितुर्मरणानन्तरं पुनर्जन्मेत्युक्तेः पुत्रस्याप्येवमेव जन्म ज्ञातुं शक्यत इत्यभिप्रायेण पितुरित्युक्तमित्याह — सोऽपि पुत्र इति। यथा पितेत्यनन्तरं [9]ततश्च पुत्रस्यैव तृतीयं जन्मोक्तमिति शेषः। एवं च तदस्य तृतीयं जन्मेति वाक्ये तच्छब्देन [10]तत्प्रकारकत्वमुच्यते। अस्येति पुत्र उच्यते। अस्य पुत्रस्य तत्प्रकारकं तृतीयं जन्मेति वाक्यार्थ इति भावः। ननु पर्यायद्वयोक्तं जन्म यथा पुत्रगतमेवैवं तृतीयपर्यायोक्तमपि साक्षात्पुत्रगतमेवोच्यतां किं तयोरेकात्मत्वविवक्षयेत्या-[11]द्यपरिहारे दोषमाशङ्क्याऽऽह — तदन्यत्रोक्तमिति। अयं भावः — पुत्रस्य पितरं प्रत्युपकारप्रदर्शनार्थं तत्प्रतिनिधित्व उक्ते पिता स्वयमेव कर्म करोतु किं प्रतिनिधिनेत्याशङ्किते तत्परिहारार्थं पितुर्मरणाभिधानं प्रसक्तमिति मरणानन्तरं वक्तव्यं तृतीयं जन्म [12]लाघवर्थं [13]तस्मिन्नेवोक्तमिदं जन्मत्रयं सर्वेषां पूर्वेषामप्यस्तीति प्रदर्शयितुं च पुत्रे वक्तव्यमपि तृतीयं जन्म पितर्युक्तमिति।।४।।

जो जन्म होता है, वही उसका तीसरा जन्म है। ऐसा क्यों कहा गया है? समाधान :- यह कोई दोष नहीं है क्योंकि पिता और पुत्र का अभेद बतलाना ही अभीष्ट है, वह पुत्र भी अपने पिता की भाँति अपने पुत्र पर भार सौंपकर यहाँ से प्रस्थान करने पर फिर उत्पन्न होता ही है। यह बात एक को कह देने पर दूसरे के लिए भी कह दी गयी है, ऐसा श्रुति मानती है क्योंकि पिता और पुत्र में अभेद ही है।।४।।

---

१. अस्य-पितुः। २. संसरतः-पुत्ररूपजीवस्येत्यर्थः। ३. मातुः सकाशात्। ४. तत् — तृतीयं जन्म। अन्यत्र — पितरि। ५. इतरत्रापि — पुत्रेऽपीत्यर्थः। ६. तद्यथा तृणजलूका तृणस्यान्तं गत्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मा - नमुपसंहरत्येवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याविद्यां गमयित्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसंहरति — इति बार्हदारण्यकं वाक्यम्। अत्राविद्यां गमयित्वेत्यस्य अविद्याकार्यं मदीयत्वाभिमानं त्यक्त्वेत्यर्थः। ७. औचित्या-दिति — अन्वयबोधजनकत्वादिति यावत्। ८. अनन्वयापत्तेरिति — अन्वयबोधानिष्पत्तेरित्यर्थः। तन्निष्ठ-तृतीयस्यतन्निष्ठद्वयसापेक्षत्वात्तस्य चानुक्तेराकाङ्क्षोपशमाभावादिति भावः। ९. ततश्चेति — पितृजन्मोक्ते-र्निदर्शनार्थत्वादेवेत्यर्थः। १०. तत्प्रकारकत्वमिति — पितृजन्मसदृशत्वमित्यर्थः। ११. आद्य इति — द्वितीय-परिहारोऽपि नैतं दोषमतिक्रामतीत्याद्योक्तिरप्रयोजनेत्यवधेयम्। १२. लाघवार्थमिति — चतुर्थपर्यायानारम्भो लाघवम्। न ह्यस्मिन्नेव पर्याये पुत्रस्य तृतीयजनिर्यथापूर्वं शक्या कथयितुमिति तदर्थं चतुर्थपर्याय आरम्भणीयः स्यादिति तद्गौरवम्। १३. तस्मिन्नेव — तृतीयपर्याये पितर्येव चेत्यर्थः।

तदुक्तमृषिणा —
गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा।
शतं मा पुर आयसीररक्ष[1]न्नधः श्येनो जवसा निर-
दीयमिति गर्भ एवैतच्छयानो वामदेव एवमुवाच।।५।।

यही बात मन्त्र में कही गयी है। माता के गर्भ में रहते हुए ही मैंने इस (वाक् एवं अग्नि आदि) देवताओं के सम्पूर्ण जन्मों को जान लिया है। (संसार बन्धन से मुक्त होने से पूर्व) मुझे लोहमय अभेध्य सैकड़ों शरीरों ने अवरुद्ध किया था। अब (तत्त्वज्ञान के प्रभाव से) मैं बाजपक्षी के समान (इस जाल को काट कर) बाहर निकल आया हूँ। वामदेव ऋषि ने गर्भ में सोते हुए ही ऐसा कहा था।।५।।

---

[2]एवं संसरन्नवस्थाभिव्यक्तित्रयेण जन्ममरणप्रबन्धारूढः सर्वो लोकः संसार-समुद्रे निपतितः [3]कथंचिद्यथाश्रुत्युक्तमात्मानं विजानाति यस्यां कस्यांचिदवस्थायां तदेव मुक्तसर्वसंसारबन्धनः कृतकृत्यो भवतीत्येतद्वस्तु तदृषिणा मन्त्रेणाप्युक्तमित्याह-गर्भे नु मातुर्गर्भाशय एव सन्वसन्। न्विति वितर्के। अनेकजन्मान्तर[4]भावनापरिपाकवशादेषां देवानां वागग्न्यादीनां जनिमानि जन्मानि विश्वा विश्वानि सर्वाण्यन्ववेदमहमहो

पूर्वाध्यायेऽध्यारोपप्रकरणोक्तमावसथत्रयं वैराग्यार्थमिह प्रपञ्च्य तस्मिन्नेवाध्याये तस्य [5]संसारस्य निवर्त्यत्वेन तदपवादार्थं यत्तत्त्वज्ञानमुक्तं स एतमेवे[6]त्यादिना तत्सफलं प्रपञ्चयितुं तदुक्त-मृषिणेत्यादिग्रन्थः। तत्र तच्छब्दार्थमाह — एवमित्यादिना। एतद्वस्त्विति। संसारसमुद्रे पतनं तत्त्व-ज्ञानाच्च तन्निवृत्तिरित्येतद्वस्त्वित्यर्थः। आहेति। ब्राह्मणमिति शेषः। भावनेति। आत्मानात्मविवेक-भावनेत्यर्थः। वागग्न्यादीनामिति। उक्तानि जन्मानि शरीरग्रहणरूपाणि तदुपलक्षितः सर्वोऽपि संसारो वागादिकरणतदधिष्ठातृदेवता[7]दिसंघातस्य लिङ्गशरीरस्यैव न त्वसङ्गस्य व्यापिनो ममेत्यर्थः। अनेन पदार्थविवेकपूर्वकमात्मज्ञानमुक्तम्। यद्वा सर्वज्ञादात्मनः सकाशादेवैषां जन्मानीत्य[8]न्ववेदम्।

वामदेव का वाक्य

इस प्रकार संसार में उत्पन्न होता हुआ और अवस्था की तीन अभिव्यक्तियों के क्रम से जन्म मरणरूप परम्परा पर आरूढ़ हुआ सभी लोक संसार समुद्र में पड़ा, जिस समय किसी प्रकार जिस किसी अवस्था में भी श्रुति-प्रतिपादित अपनी आत्मा को जान लेता है, उसी समय वह सम्पूर्ण संसार बन्धनों से मुक्त हुआ कृत-कृत्य हो जाता है। यही बात ऋषिरूप मन्त्र ने भी कही है। उसी को अब बतलाते हैं — माता के गर्भ में रहते हुए ही ऋषि वामदेव ने कहा था। यहाँ "नु" शब्द वितर्क अर्थ का बोध कराता है। अनेक जन्मान्तरों की भावना के परिपाक वश मैंने इन वाग्, अग्नि आदि देवताओं

---

१. अधः — आत्मज्ञानोदयात् प्राक्। २. एवमिति — चतुर्थाध्यायोक्तप्रकारेणेत्यर्थः ३. कथंचिदिति — अनेक-जन्माभ्यासपरिपाकवशेनेत्यर्थः। ४. अभ्यासेत्यर्थः। ५. संसारस्येति — आवसथत्रयात्मकस्येत्यर्थः। ६. स एतमेव ब्रह्म ततममपश्यदित्यादिनेत्यर्थः। ७. आदिना प्राणादि गृह्यते। ८. अनुक्रमेणावेदमित्यर्थः।

स एवं विद्वान[1]स्माच्छरीरभेदादूर्ध्व उत्क्रम्यामुष्मि-

वह (वामदेव ऋषि पूर्वोक्त आत्मा को) इस प्रकार जानकर इस शरीर के नाश होने के बाद-

---

अनुबुद्धवानस्मीत्यर्थः। शतमनेकं बह्व्यो मा मां पुर आयसीरायस्यो [2]लोहमय्य इवा-भेद्यानि शरीराणीत्यभिप्रायः। अरक्षन्रक्षितवत्यः संसाररपाशनिर्गमनादधोऽधः श्येन इव जालं भित्वा जवसाऽऽत्मज्ञानकृतसामर्थ्येन निरदीयं निर्गतोऽस्मि। अहो गर्भ एव शयानो वामदेव ऋषिरेवमुवाचैतत्।।५।।

स वामदेव ऋषिर्यथोक्तमात्मान[3]मेवं विद्वानस्माच्छरीरभेदाच्छरीरस्याविद्यापरिकल्पित-स्याऽऽयसवदनिर्भेद्यस्य जननमरणाद्यनेकानर्थशताविष्टशरीरप्रबन्धस्य (प्रवाहस्य) [4]परमात्म-

---

एतज्जन्महेतुभूतं मूलकारणमात्मानं ज्ञातवानस्मीत्यर्थः। यद्यपि गर्भे श्रवणादिज्ञानसामग्री नास्ति तथाऽपि पूर्वजन्मकृतश्रवणादिसामग्रीवशादेव प्रतिबन्धनिवृत्तौ सत्यां गर्भेऽपि ज्ञानोत्पत्तिः संभवतीति भावः। इतः पूर्वकालीनं बन्धं दर्शयति – शतमिति। अभेद्यानीति। तत्त्वज्ञानमन्तरा तत्प्रवाहाविच्छे-दादित्यर्थः। अधोऽध इति। अथो [5]लोकेष्वेव निकृष्टलोकेष्वेवा[6]रक्षन्नित्यर्थः। यद्वाऽध इति श्रौतं पदमथेत्यर्थे व्याचष्टे – अधोऽथेति। अथा[7]नन्तरमिदानीमित्यर्थः।[8] मन्त्रद्रष्टुरभिप्रायमाह – अहो इति। [9]इदमाश्चर्यं मम संवृत्तमित्यभिप्रायेण मन्त्रमुक्तवानित्यर्थः। मन्त्रद्रष्टुर्नामनिर्देशपूर्वक तस्य [10]तात्पर्यं वक्तुं गर्भ एवैतदित्यादि ब्राह्मणम्। तद्व्याचष्टे – गर्भ इत्यादिना। एतत्पूर्वब्राह्मणोक्तमर्थजातमेवं मन्त्रोक्तप्रकारेणोवाचेत्यन्वयः।।५।।

ज्ञानस्याव्यभिचरितफलत्वज्ञापनाय वामदेवेन ज्ञानफलं प्राप्तमिति वक्तुं स एवं विद्वानिति वाक्यं व्याचष्टे – स वामदेव इति। शरीरस्य पुनरुत्पत्तिशङ्कां वारयति – शरीरोत्पत्तीति। तत्त्व-

---

के सभी जन्मों का अनुभव प्राप्त किया है। संसार बन्धन से मुक्त होने के पूर्व अनेकों लोहमय अभेद्य शरीरों में मुझे अवरुद्ध किया था। अब जाल को काटकर वेग से उड़ जाने वाले बाज पक्षी के समान मैं आत्मज्ञान जनित शक्ति के द्वारा उससे बाहर निकल आया हूँ। अहो! आश्चर्य व्यक्त करने वाले वामदेव ऋषि ने गर्भ में शयन करते हुए ही ऐसा कहा था।।५।।

वामदेव की गति

वह वामदेव ऋषि पूर्वोक्त आत्मा को इस प्रकार जानकर इस शरीर के नष्ट होने के अनन्तर

---

१. अस्माच्छरीरभेदादूर्ध्व उत्क्रम्यामुष्मिन्त्स्वर्गे लोकेऽमृतः समभवदिति विदेहमुक्तिरुक्ता। सर्वान् कामानाप्त्वेति जीवन्मुक्तिस्तथा चेत्थमत्रान्वयः। स एवं विद्वान् इहैव सर्वान् कामानाप्त्वा अस्माच्छरीरभेदादूर्ध्व उत्क्रम्या-मुष्मिन्स्वर्गे लोकेऽमृतः समभवदिति। २. लोहमय्य इति – शृंखला इति शेषः। ३. एवं मन्त्रोक्तप्र-कारेण। ४. परमात्मेत्यादि – परमात्मज्ञानाख्यस्यामृतस्योपयोगऽपभोगो भूयोऽभ्यासेन पुनरनात्मानभिभवनीयत्वलक्षण-वीर्योत्पादनानुकूलीकरणं तज्जनितयथोक्तवीर्यकृताद्भेदादित्यर्थः। ५. शरीरेषु। ६. स्वस्मिन्नेवेत्यर्थः। ७. अनन्तरमिति – गुरुशास्त्रप्रसादात्तत्त्वज्ञानोदयानन्तरमित्यर्थः। ८. मन्त्रद्रष्टुरभिप्रायमिति – अनेन पूर्ववाक्यान्त एवान्वेत्यहो पदमिति मन्यते टीकाकृदित्यभिव्यज्यते। आदावेव तु वाक्यस्यान्वयमर्हति तदिति प्रायोगदर्शनात्प्रतीमः। ९. इदमाश्चर्यमिति – मदधीनसिद्धिकोऽपि जडवर्गश्चेतनं मां कथमरुन्धेत्याश्चर्यमित्यर्थः। १०. तात्पर्यं पूर्वब्राह्मणोक्तार्थजातविष्यकमित्यर्थः।

न्त्स्वर्गे लोके सर्वान्कामानाप्त्वाऽमृतः समभवत्सम-
भवत्।।६।।

(यथास्थानं गर्भिण्यः)

इत्यैतरेयोपनिषद्यात्मषट्के चतुर्थः खण्डः।।४।।
उपनिषत्क्रमेण द्वितीयाध्याये प्रथमः खण्डः।।१।।
इत्यैतरेयोपनिषदि द्वितीयोऽध्यायः।।२।।

उत्क्रमण कर इन्द्रियों के अविषय स्वयंप्रकाश आत्मलोक में सम्पूर्ण भोगों को प्राप्त कर अमर हो गया (अर्थात् आत्मज्ञान द्वारा पूर्णकाम .होने के कारण जीवित ही अमरत्व को प्राप्त किया)।।६।।

।।इति द्वितीयाध्यायः प्रथमखण्डः।।

ज्ञानामृतोपयोगजनितवीर्यकृतभेदाच्छरीरोत्पत्तिबीजाविद्यादिनिमित्तोपमर्दहेतोः शरीर-विनाशादित्यर्थः। ऊर्ध्वः परमात्मभूतः सन्नधोभवात्संसारदुत्क्रम्य ज्ञाना[1]वद्योतितामल-सर्वात्मभावमापन्नः सन्नमुष्मिन्यथोक्तेऽजरेऽमरे[2]ऽमृतेभये सर्वज्ञेऽपूर्वेऽनपरेऽनन्तरेऽबाह्ये प्रज्ञानामृतैकरसे [3]प्रदीपवन्निर्वाणमत्यगमत्स्वर्गे लोके स्वस्मिन्नात्मनि स्वे स्वरूपेऽमृतः

ज्ञानेनाविद्यादिनाशादित्यर्थः। परमात्मभूतः सन्निति। ऊर्ध्वशब्दस्योपरितनवाचित्वात्परमात्मवस्तुन एव कदाचिदप्यधोभावरूपनिकर्षाभावेन [4]निरङ्कुशोपरितनभावादूर्ध्वशब्दार्थत्वमित्यर्थः। प्रसिद्धं स्वर्गलोकं वारयति – अमुष्मिन्यथोक्त इति। इन्द्रियागोचरत्वेनामुश्मिन्निति निर्देशः। स्वर्गशब्दस्य निरतिशयसुख[5]सामान्यवाचित्वाद्ब्रह्मानन्दस्यैव तथाविधत्वात्तस्यैव मुख्यं स्वर्गत्वम्। वैषयिकस्य तु स्वर्गत्वमापेक्षिकमित्यर्थः। उक्तस्य स्वर्गस्य ब्रह्मरूपस्य स्वस्माद्भेदमाशङ्क्याऽऽह – स्वस्मिन्निति। आत्मशब्दस्यान्तःकरणाद्यर्थत्वं वारयति – स्वे स्वरूप इति। अमुष्मिन्स्वर्गे मर्त्यदेहादिभावं विहाय

लोहमय की भाँति दुर्भेद्य और जन्म-मरणादि अनेक प्रकार के सैकड़ों अनर्थों से युक्त अविद्या परिकल्पित इस शरीर परम्परा का परमात्मज्ञान रूप अमृत के आस्वाद से प्राप्त हुई शक्ति द्वारा भेदन होने पर अर्थात् शरीर उत्पत्ति के बीजभूत अविद्या आदि निमित्तों की निवृत्ति से होने वाले देहपात के बाद परमात्मभाव को प्राप्त हो संसाररूप अधोभाव से ऊपर उठकर तत्त्वज्ञान द्वारा उद्भासित निर्मल सर्वात्मभाव को प्राप्त हो जाता है और इन्द्रियों के अविषय पूर्वोक्त अजर, अमर, अमृत, अभय, सर्वज्ञ, अपूर्व, अनपर, अनन्तर, अबाह्य और एकमात्र प्रज्ञान, अमृत स्वरूप स्वर्गलोक में दीपक की भाँति शान्त हो गया, अर्थात् अपने स्वरूप में स्थित हो अमर हो गया। अभिप्राय यह है कि आत्मज्ञान द्वारा पहले से ही पूर्णकाम होने के कारण जीवित अवसथा में ही सम्पूर्ण कामनायें प्राप्तकर मुक्त हो

---

१. अवद्योतितेति – निराकृतावरणेत्यर्थः। २. अमरे – अपरिणामिनि। ३. प्रदीपनिर्वाणं तेजः सामान्यापत्तिः। दार्ष्टान्तिके चित्सामान्यापत्तिः। इदं चामृतः समभवदित्यस्य व्याख्यानमेव पुरस्तात्पठितम्। ४. निरङ्कुशत्वं – निरतिशयत्वं तच्चोत्कर्षापकर्षराहित्यम्। ५. सामान्यत्वं – सकलसुखानुस्यूतत्वम्।

अथ तृतीयोऽध्यायः।

(आरण्यकक्रमेण: षष्ठोऽध्याय:)

तत्र प्रथमः खण्डः

ॐ [1]को[2]ऽय[3]मात्मेति वयमुपास्महे कतरः [4]स आत्मा।

हम जिस आत्मा की उपासना करते हैं, वह आत्मा कौन है? जिससे जीव प्राणी देवता

समभवदा[5]त्मज्ञाने पूर्वं समा[6]प्तकामतया जीवन्नेव सर्वान्कामाना[7]प्त्वत्यर्थः। द्विर्वचनं सफलस्य सोदाहरणस्याऽऽत्मज्ञानस्य परिसमाप्तिप्रदर्शनार्थम्।।६।।

इत्यैतरेयोपनिषद्भाष्ये द्वितीयाध्याये प्रथमः खण्डः।।१।।

इति श्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवत्कृतावैतरेयोपनिषद्भाष्ये द्वितीयोऽध्यायः।।२।।

ब्रह्मविद्यासाधनकृतसर्वात्मभावफलावाप्तिं वामदेवाद्याचार्यपरम्परया श्रुत्या-

---

स्वात्मभावेनैव स्थित इत्याह — अमृत इति। उक्तस्वर्गलोके[8] सर्वकामावाप्तिरिति भ्रमं वारयति — पूर्वमिति। जीवन्मुक्तिदशायामाप्तकामतया [9]सर्वात्मत्वेनेत्यर्थः। सोदाहरणस्येति। उदाहरणं-वामदेव इत्यर्थः।।६।।

इत्यैतरेयोपनिषद्भाष्यटीकायां द्वितीयाध्याये प्रथमः खण्डः।।१।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञानकृतावैतरेयोपनिषद्भाष्यटीकायां द्वितीयोऽध्यायः।।२।।

पूर्वस्मिन्नध्याये जन्मत्रयनिरूपणेन वैराग्यं निरूपितं ज्ञानोत्पत्त्यर्थम्। न च पदार्थशोधनं विना वैराग्यमात्रेण [10]ज्ञानोत्पत्तिरिति पदार्थशोधनपूर्वकं वाक्यार्थं कथयितुं षष्ठोऽध्याय इत्यभिप्रेत्य पदार्थशोधनेऽधिकारिणं दर्शयन्वाक्यमवतारयति — ब्रह्मविद्येति। वामदेवाद्याचार्येति। आदिशब्देन तद्यो

गया। फल और उदाहरण के सहित आत्मज्ञान की परिसमाप्ति सूचित करने के लिए यहाँ पर "समभवत्" इस पद की द्विरावृत्ति की गयी है।

---

१. कोऽयमात्मेति-इत्यनन्तरम् एवमयमात्मेति साक्षादुपासीनो वामदेवोऽमृतः समभवत् इति शेषः। वयमुपास्महे — आत्मतत्त्वजिज्ञासवो वयमपि अयमात्मेति यमुपास्महे प्रतिदिनं प्रतिक्षणं व्यवहरामः स कः अहं प्रत्ययविषय-रूपो वा अहंवृत्त्यभिव्यक्तस्फुरणरूपो वेत्यर्थः, इति त्वंपदार्थशोधनप्रश्नः २. अहंप्रत्ययविषयत्वेन प्रत्यक्ष इत्यर्थः। ३. आत्मशब्दवाच्य इत्यर्थः। ४. सीमानं विदार्येत्यत्र श्रुतः सोपाधिकः नान्यत् किंचन मिषदित्यत्र श्रुतो निरुपाधिकः इत्यनयोः सोपाधिनिरुपाध्योः कः स आत्मेति तत्पदार्थशोधनप्रश्नः। ५. विदेहमुक्तिं व्याख्याय जीवन्मुक्तिं व्याचष्टे — आत्मज्ञानेनेत्यादिना। ६. आप्तकामतयेति — सर्वत्र स्वाभेददर्शनात्सकलकामा-भावेनैवाप्तकामता विदुषः। ७. आप्त्वेति — सर्वकामावाप्तिश्च काम्यमानसर्वक्षुद्रानन्दानां स्वलब्धभूमानन्देऽन्तर्भावा-देवावगन्तव्या। ८. एवेति शेषः। ९. सर्वेति — स्वभिन्नस्य काम्यमानस्याभावादिति भावः। पूर्वत्र हेतूक्तिरियम्। १०. ज्ञानेत्यादौ वाक्यार्थेति शेषः।

[1]येन वा[2]पश्यति येन वा श्रृणोति येन वा गन्धाना-
जिघ्रति येन वा वाचं व्याकरोति येन वा स्वादु
चास्वादु च विजानाति।।१।।

है या जिससे सुनता है, या जिससे गन्धों को सूँघता है, या जिससे शब्द का विश्लेषण करता है, या जिससे स्वादु अस्वादु वस्तु को जानता है (अर्थात् उक्त सभी ज्ञानों के कारण और कर्तारूप दो आत्माओं में से) वह कौन सा आत्मा है।।१।।

ऽवद्योत्यमानां ब्रह्मवित्परिषद्यत्यन्तप्रसिद्धामु[3]पलभमाना मुमुक्षवो ब्राह्मणा [4]अधुनातना ब्रह्म जिज्ञासवोऽनित्यात्साध्यसाधनलक्षणात्संसारादाजीवभावाद्व्याविवृत्सवो विचारयन्तोऽन्योन्यं पृच्छन्ति [5]कोऽयमात्मेति[6]कथं यमात्मानमयमात्मेति साक्षाद्वयमुपास्महे कः स आत्मेति। यं चाऽऽत्मानमयमात्मेति साक्षादुपासीनो वामदेवोऽमृतः समभवत्तमेव वयमप्यु-

---

यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवदित्यादिनोक्ता देवादयो गृह्यन्ते — अधुनेति। पूर्वोक्तरीत्या वैराग्योत्पत्त्यनन्तरमित्यर्थः। आजीवभावादिति। संसारस्य हेतुभूताविद्यातत्कार्येष्वात्मभावसहिताद्व्यावर्तितुं संसारं परित्यक्तुमिच्छन्त इत्यर्थः। विचारप्रकारमेव वाक्यान्वयेन स्पष्टीकर्तुं पृच्छति — कथमिति। नन्वयमात्मेति विशेषतो निश्चये स क इति प्रश्नानुपपत्तिः। तद्विचारेण वा न किंचित्प्रयोजनमित्याशङ्क्याऽऽत्मानं विशिनष्टि — यं चेति। उपास्महे उपासितुं प्रवृत्ता इत्यर्थः। [7]वामदेवो यमात्मानमुपास्यामृतोऽभवद्वयमपि तमात्मानमुपासितुं प्रवृत्ताः स क इति प्रश्नार्थ इत्यर्थः। उपासनं नामोप सामीप्येनैक्येन [8]तस्यैव निरुपचरितसामीप्यत्वादैक्येनापरोक्षीकृत्याऽऽसनं तद्रूपेणावस्थानं यत्तदुच्यते। यद्वाऽहं सुखीत्यादिव्यवहारेषु तमेव वयमप्युपास्महे [9]तमेवाऽऽत्मत्वेन स्वीकृत्य स्थिताः। अनात्मनोऽह-

---

आत्मा के विषय में प्रश्नोत्तर

श्रुति द्वारा वामदेव आदि आचार्यों की परम्परा से प्रकाशित तथा ब्रह्मज्ञानियों की सभा में अत्यन्त प्रसिद्ध ब्रह्मविद्यारूप साधन के अनुष्ठान से सर्वात्मभावरूप फल की उपलब्धि करने वाले आधुनिक मुमुक्षु और ब्रह्मजिज्ञासु ब्राह्मण लोग जीवभाव पर्यन्त साध्य-साधनरूप अनित्य संसार से निवृत्त होने की इच्छा वाले परस्पर विचार करते हुए पूछते हैं कि यह आत्मा कौन है? किस प्रकार पूछते हैं? "यह आत्मा है" इस प्रकार हम जिस आत्मा की साक्षात् उपासना करते है, वह आत्मा कौन है तथा "यह आत्मा है" इस प्रकार जिस आत्मा की साक्षात् उपासना करने वाला वामदेव अमर हो गया था, उसी आत्मा की हम उपासना करते हैं। पर वस्तुतः वह आत्मा कौन है? ऐसी

---

१. येनेति — चक्षुरादीन्दियाभिव्यक्त चैतन्येनेत्यर्थः। २. कार्यकरणसंघाताभिमानी लौकिकः पुरुष इत्यार्थम्। ३. उपलभमाना जानानाः। ४. अधुनातना इदानीमुत्पन्नवैराग्या इत्यर्थः। ५. कोऽयमात्मेतीत्ययं प्रतीकः कथमित्यनन्तरं पठनीयः। अधिको वाऽयम्। ६. कथमित्यनन्तरं विचारयाञ्चक्रुरिति शेषः। ७. वामदेव इति — एतेन विशेषतो निश्चयाभावान्न प्रश्नानुपपत्तिरिति सूचितम्। अमृतभावोक्त्या च प्रयोजनमपि। एतेनेति उपास्महे इत्यस्योपासितुं प्रवृत्ताः स्म इति व्याख्यानेन। अमृतः समभवदित्यन्तवचनेन चेत्यर्थः। ८. तस्यैव — ऐक्यस्यैवेत्यर्थः। ९. तमेव अहंप्रत्ययविषयमेवेत्यर्थः।

पास्महे को नु खलु स आत्मेति। एवं जिज्ञासापूर्वमन्योन्यं पृच्छतामतिक्रान्तविशेषविषय-श्रुतिसंस्कारजनिता स्मृतिरजायत। "तं प्रपदाभ्यां प्रापद्यत ब्रह्मेमं पुरुषम्" (ऐ. आ. २-१-४)। "स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत"। एतमेव पुरुषं द्वे ब्रह्मणी इतरेतरप्राति-कूल्येन प्रतिपन्ने इति। ते चास्य पिण्डस्याऽऽत्मभूते। तयोरन्यतर आत्मोपास्यो भवितुमर्हति। योऽत्रोपास्यः कः स आत्मेति विशेषनिर्धारणार्थं पुनरन्योन्यं पप्रच्छुर्विचारयन्तः।

मिति प्रतीत्यनुपपत्ते स आत्मा क इति विचारार्थः। [1]न चायमात्मेति निश्चये विचारायोगः। [2]तस्यैव कार्यकरणसंकीर्णत्वेन विचारोपपत्तेरिति। ननु [3]भूतानां [4]व्याकरणार्थं यः प्रविष्टः स एवाऽऽत्मेतिनिर्धारणसंभवाद्विचारानुपपत्तिरित्याशङ्क्यै[5]वमपि द्वयोः प्रविष्टत्वेन स्मर्यमाणत्वान्न निर्धारणमिति वक्तुं द्वयोः प्रविष्टत्वं स्मृतमित्याह — एवं जिज्ञासेति। अतिक्रान्तेति। अतिक्रान्तौ पूर्वमुक्तौ यौ विशेषौ देहे प्रविष्टौ प्राणात्मानौ तद्विषया श्रुतिजन्यानुभवजन्यसंस्कारजनिता स्मृतिरित्यर्थः। तामेव स्मृतिं स्वरूपतो दर्शयति — तं प्रपदाभ्यामिति। तमिमं पुरुषं शरीरं प्रपदाभ्यां [6]पादाग्राभ्यां ब्रह्मापरब्रह्मरूपः प्राणः प्रविष्ट इत्यर्थः। अन्यस्य प्रवेशे श्रुतिमाह — स एतमिति। श्रुतिभ्यां लब्धमर्थमाह — एतमेवेति। अत्रेति श्रुतिभ्यामित्यध्याहृत्येति श्रुतिभ्यामितरेतरप्रातिकूल्येनेतरेतराभि-मुखतयैतमेव पुरुषशरीरं प्रतिपन्ने प्रविष्टे द्वे ब्रह्मणी इति स्मृतिरजायतेत्यन्वयः। न त्वेतमेवेत्यनेनैतमेव पुरुषं ब्रह्म ततममपश्यदिति वाक्यं द्वे ब्रह्मणी इत्यनेन द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये इति वाक्यं च द्वयोः प्रवेशे मानतयोपन्यस्तमिति भ्रमितव्यम्। आद्यवाक्ये द्वयोः प्रवेशाप्रतीतेः। द्वितीये च शब्द[7]ब्रह्मपरब्रह्मणोरभिधानेन [8]तयोर्द्वयोः प्रवेशे मानत्वायोगादिति। [9]तथाऽपि तयोर्द्वयोः कथ-मात्मत्वशङ्केत्यत आह — ते चेति। तयोरन्यतरेण विना शरीरस्थित्यभावात्तयोरात्मत्वशङ्केत्यर्थः। एवं विचारापेक्षितामात्मद्वयस्मृतिमुक्त्वा विचारमाह — तयोरन्यतर इति। आत्मा वा इदमेक एवेत्येकस्यैव ज्ञेयत्वोपक्रमान्न द्वयोरुपास्यत्वमित्यर्थः। कः स आत्मेति। य उपास्य आत्मा स क इत्यन्वयः। पप्रच्छुरिति। कतरः स आत्मेति वाक्येनेति शेषः।

जिज्ञासा-पूर्वक परस्पर प्रश्न करते हुए उन्हें आत्मसम्बन्धी विशेष विवरण से युक्त उपर्युक्त श्रूति के संस्कार से यह स्मरण हुआ कि "इस पुरुष में पादाग्र-भाग द्वारा ब्रह्म प्रविष्ट हुआ" तथा इसी पुरुष में "वह इस सीमा को ही विदीर्ण कर इसके द्वारा प्राप्त हुआ" ऐसे एक दूसरे से प्रतिकूल यहाँ पर दो ब्रह्म ज्ञात होते हैं और वे इस पिण्ड के आत्मस्वरूप हैं। इनमें से कोई एक ही आत्मा उपासनीय हो सकता है; इनमें जो उपास्य है, वह आत्मा कौन-सा है? इस विशेष बात को निश्चय करने के लिए परस्पर विचार करते हुए इन्होंने एक दूसरे से पुनः पूछा।

---

१. यद्वेत्यादिनोक्तव्याख्याऽन्तरपक्षेऽपि पूर्वोक्ताशङ्कामुद्भाव्य निराचष्टे—न चायमित्यादिना। २. तस्यैवेति—तथा च निश्चयविषयः संकीर्ण एव तद्विवेकाय च विचार इति भावः। ३. भूतनामिति—संघातरूपेण परिणतानामित्यर्थः। ४. व्याकरणार्थम्—स्वतादात्म्येन कथनार्थम्। ज्ञानार्थं चेत्यर्थः। स्वस्माद्विविच्य ज्ञानार्थं कथनार्थं चेति वार्थः। ५. एवमपीति—प्रविष्टस्यात्मत्वस्वीकारेऽपीत्यर्थः। ६. पादाग्राभ्यामिति—पादाङ्गुष्ठाग्राभ्यामित्यर्थः। ७. वेदेत्यर्थः। ८. तयोः प्राणब्रह्मणोः। ९. द्वयोः प्रविष्टत्वेऽपि।

पुनस्तेषां विचारयतां विशेषविचारणास्पदविषया मतिरभूत्। कथं, द्वे वस्तुनी अस्मिन्पिण्ड उपलभ्येते अनेकभेदभिन्नेन करणेन येनोपलभते यश्चैक उपलभते करणान्तरोपलब्धविषयस्मृतिप्रतिसंधानात्। तत्र न तावद्येनोपलभते स आत्मा भवितुमर्हति। केन पुनरुपलभत इति। उच्यते। येन वा [1]चक्षुर्भूतेन रूपं पश्यति येन वा शृणोति श्रोत्रभूतेन शब्दं येन वा घ्राणभूतेन गन्धानाजिघ्रति येन वा वाक्करणभूतेन

एवं विचारे क्रियामाणेऽतिपरिशुद्धान्तःकरणत्वात्तेषां प्रपदाभ्यां प्रपन्ने करणत्वेनानात्मत्वनिश्चयो मूर्धा प्रविष्ट उपलब्धृत्वेनाऽऽत्मत्वनिश्चयश्चाभूदित्याह — पुनरित्यादिना। विशेषेति। विचारणास्पदप्राणात्मद्वयविषयैकस्मिन्करणत्वेनापरस्मिन्नुपलब्धृत्वेन प्रकारेण विशेषरूपा मतिरजायतेत्यर्थः। ननु द्वयोः सत्त्व इयं विशेषमतिः स्यात्तदेव नास्तीति शङ्कते — कथमिति। चक्षुषा पश्यामीत्यादिप्रकारेण द्वयोः प्रतीतेर्नैवमित्याह — द्वे इति। येनोपलभते यश्चोपलभते ते द्वे उपलब्धिकर्तृकरणे वस्तुनी उपलभ्येते इत्यन्वयः। तत्र किं करणमित्यत आह — अनेकेति। चक्षुःश्रोत्राद्यनेकभेदभिन्नेनेत्यर्थः। [2]अनेन यदनेकात्मकचक्षुरादिकरणसंघातात्मकं प्राणस्वरूपं तत्संहतत्वात्परार्थमिति परशेषत्वेन करणमित्युक्तम्। उपलब्धरि त्वनेकात्मकत्वाभावन्न परार्थत्वेन शेषत्वम्। किन्तु शेषित्वमेवेति वक्तुमेक इत्युक्तम्। अनेन करणस्य परार्थत्वं परं शेषिणमन्तराऽनुपपन्नं सत्परं व्यतिरिक्तमुपलब्धारं गमयतीति तस्मिन्नपि तत्प्रमाणमित्युक्तम्। इदानीं करणानामेवोपलब्धृत्वं तद्व्यतिरिक्तोपलब्धा नास्तीति वदन्तं नास्तिकं प्रति प्रमाणान्तरमाह — करणान्तरेति। पूर्वं चक्षुषा रूपं दृष्ट्वा पश्चादुद्धृतचक्षुः स्मरति रूपमद्राक्षमिति। तथा योऽहमद्राक्षं स एवेदानीं स्पृशामीति [3]प्रतिसंदधाति। तदुभयं व्यतिरिक्तोपलब्धुरभावे न स्यात्। अन्यानुभूतेऽन्यस्य स्मृतिसंधानयोरदर्शनादित्यर्थः। एवमनेकात्मकस्य करणत्वमुक्त्वा तत एव तस्याऽऽत्मत्वं नास्तीत्याह — तत्र न तावदिति। तयोर्मध्य इत्यर्थः। अर्हतीत्यनन्तरं किंतु परिशेषादुपलब्धाऽऽत्मा भवितुमर्हतीति वक्ष्यमाणन्वयेन वाक्यं पूरणीयम्। एवमर्थमुपवर्ण्य [4]तमर्थं श्रुत्यक्षरारूढं कर्तुं पृच्छति — केन पुनरिति। श्रुत्यारूढं करोति — उच्यत इति। येनेति। तृतीयया करणत्वं चक्षुरादेरुक्तमित्यर्थः। वाक्करणेति। वाग्रूपकरणेनेत्यर्थः।

फिर परस्पर विचार करने वाले उन मुमुक्षुओं को अपने विचारणीय विषय विशेष के सम्बन्ध में ऐसी बुद्धि उत्पन्न हुई। किस प्रकार उत्पन्न हुई? इस पिण्ड में दो वस्तुएँ उपलब्ध होती हैं। जिस चक्षुरादि अनेक भेदों से विभिन्न साधनों द्वारा विषयों को पुरुष उपलब्ध करता है, एक यह है और दूसरा जो उपलब्ध करने वाला है क्योंकि भिन्न-भिन्न इन्द्रियों द्वारा उपलब्ध हुए विषयों की स्मृति का अनुसन्धान वह करता है, उनमें से जिन साधनों के द्वारा पुरुष विषयों को उपलब्ध करता है वे तो आत्मा हो नहीं सकते तो फिर वह किसके द्वारा जानता है, यह कहा जाता है। नेत्र के साथ एकीभूत हुए जिससे रूप को देखता है, श्रोत्रभावापन्न जिस श्रोत्र से शब्द सुनता है, नासिका से तद्रूप जिसे वह गन्ध को सूँघता है, जिस वागिन्द्रिय के साथ तद्रूप होने से वह गौ, अश्व इत्यादि नामा-

---

१. चक्षुर्भूतेन प्राणेनेति शेषः। २. अनेनेति—अनेकेतिविशेषणेन वाक्येन वेत्यर्थः। ३. प्रतिसंदधाति—प्रत्यभिजानाति प्रत्यभिज्ञाश्रयो भवतीति यावत्। ४. तमर्थमिति—येनेत्यादिवाक्यस्याभिप्रायमित्यर्थः। श्रुत्यक्षरनिहितम्।

यदेतद्धृदयं मनश्चैतत्। संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं मेधा दृष्टिर्धृतिर्मतिर्मनीषा जूतिः स्मृतिः संकल्पः

यह जो (प्रजाओं का रेतरूप सारभूत) हृदय है, वही मन भी है, चेतनता, प्रभुता, विज्ञान, प्रज्ञान मेधा, दृष्टि, धृति, मति, मनीषा, रोगादिजनित दुःखरूप जूति, स्मृति, संकल्प, क्रतु, प्राण, काम

वाचं नामात्मिकां व्याकरोति [1]गौरश्व इत्येवमाद्यां साध्वसाध्विति च। येन वा जिह्वाभूतेन स्वादु चास्वादु च विजानातीति।।१।।

किं [2]पुनस्[3]तदेवैकमनेकधा भिन्नं करण[4]मिति, उच्यते –

यदुक्तं पुरस्तात् "प्रजानां रेतो हृदयं हृदयस्य रेतो मनः" (ऐ. आ. २-१-३) "मनसा सृष्टा आपश्च वरुणश्च" (ऐ. आ. २-१-७) "हृदयान्मनो मनसश्चन्द्रमाः" तदेवैतद्धृदयं मनश्चैकमेतदनेकधा। [5]एतेनान्तःकरणेनैकेन चक्षु-

---

वाचमिति करणं नोच्यते तस्य येनेत्यनेनोक्तत्वात्किंतु वक्तव्यमुच्यत इत्याह – नामात्मिकामिति। साध्विति। गौरितीदं नाम साधु गावीति। नामासाध्विति व्याकरोति [6]व्याकरणेन। [7]व्यक्ती करोतीति चार्थः।।१।।

ननु चक्षुरादीनां करणत्वेऽपि प्रपदाभ्यां प्रविष्टस्य प्राणस्य करणत्वे [8]किमायातमित्याशङ्कते – किं पुनस्तदिति। तत्र प्राणस्यैव करणत्वं वक्तुंतावद्धृदय[9]मनःशब्दवाच्यस्य चक्षुरादिभेदभिन्नत्वमाह – उच्यत इति। येदतद्धृदयमित्यत्र यच्छब्दार्थमाह – यदुक्तमिति। रेत इति। सारभूतं कार्यमित्यर्थः। प्रजानां रेतो हृदयमित्यादिषु मनसश्चन्द्रमा इत्यन्तासु श्रुतिषु यदुक्तं हृदयं मनश्चेति तदेवैतत्त्वया पृष्टं करणमित्यर्थः। तदेवै[10]कमेव सच्चक्षुरादिभेदेनानेकधाभूतमिति श्रुतिगतद्वितीयैतच्छब्दार्थमाह – एकमेतदनेकधेति। [11]अत्र येन चक्षुरादिना दर्शनादिक्रियां करोति संघातात्मकः पुरुषः, तच्चक्षुरादिकं प्रजानां रेतो हृदयमित्यादिषु मनसश्चन्द्रमा इत्यन्तासु श्रुतिषु यदुक्तं हृदयं मनश्चेति करणं तदेतत्त्वया पृष्टमेतदेवैकं सदनेकधा भिन्नं चेति श्रुतिगतयेनेतितृतीयान्तयदितिप्रथमान्तयच्छब्दद्वयस्यैतदिति-प्रथमान्तैतच्छब्दद्वयस्य चान्वयो दर्शितः। एकस्यैवानेकात्मकत्वं विशदयति –एतेनेत्या-

---

त्मिका और साधु-असाधु स्वरूपा वाणी का विश्लेषण करता है एवं तद्रूप हुए जिस रसना से वह स्वादु और अस्वादु पदार्थों को जानता है।।१।।

प्रज्ञान नामक मन के अनेक नाम

पहले जो एक ही अनेक प्रकार से विभिन्न करण बतलाया गया है, वह कौन है? इसे कहते हैं - पहले जो कहा है कि प्रजाओं का सारभूत हृदय है, हृदय का सारभूत मन है, मन से जल और वरुण

---

१. नाम्नामुच्चारणं तेषां साधुत्वादिकथनं च व्याकरोतीत्यस्यार्थ इत्याशयेनाह – गौरश्व इत्यादि। २. पुनरित्यादि – अत्र एवकाररहितपाठे तु यत्पदमध्याहृत्य यदेकमनेकधा भिन्नं किं पुनस्तदिति योजनीयम्। ३. तदेव प्राणस्वरूपमेव। ४. उच्यत इत्यर्थः। ५. एतेन – मनोहृदयशब्दवाच्येन। ६. व्याकरणेन प्रकृतिप्रत्ययविभागसद्भावासद्भावप्रदर्शनद्वारेत्यर्थः। ७. व्यक्तीकरोति – आविर्भावयतीत्यर्थः। ८. किमुपपादकं प्राप्तमित्यर्थः। ९. अन्तःकरणस्येति शेषः। १०. एकमेव – हृदयमनःशब्दवाच्यं वस्तु। ११. अत्र – यदुक्तमित्यादि भाष्यग्रन्थे।

ऋतुरसुः कामो वश इति। सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति।।२।।

और मनोनुकूल वस्तुओं के स्पर्शादि कामना ये सभी प्रज्ञान के नाम हैं।।२।।

भूतेन रूपं पश्यति श्रोत्रभूतेन शृणोति घ्राणभूतेन जिघ्रति वाग्भूतेन वदति जिह्वाभूतेन रसयति [१]स्वेनैव [२]विकल्पनारूपेण मनसा [३]विकल्पयति हृदयरूपेणाध्यवस्यति। तस्मात्सर्वकरणविषयव्यापारकमेकमिदं करणं सर्वोपलब्ध्यर्थमुपलब्धुः। तथा च कौषीतकिनां — "प्रज्ञया वाचं समारुह्य वाचा सर्वाणि नामान्याप्नोति प्रज्ञया चक्षुः समारुह्य चक्षुषा सर्वाणि रूपाण्याप्नोति"(कौ. ३-६) इत्यादि। वाजसनेयके च — "मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति" (बृ. १-५-३) "हृदयेन हि रूपाणि जानाति"(बृ. ३-९-२०) इत्यादि। तस्माद्धृदयमनोवाच्यस्य सर्वोपलब्धिकरणत्वं प्रसिद्धम्। [४]तदात्मकश्च प्राणो यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वै प्रज्ञा स

दिना। सर्वकरणेति। सर्वाणि करणानि विषयाश्च [५]व्यापारो यस्येति विग्रहः। करणानां विषयाणां च हृदयशब्दवाच्यबुद्धिव्यापारत्वे श्रुतिमाह — तथा चेति। प्रज्ञया चिदाभासयुक्तया बुद्ध्या वाचं करणं समारुह्य बुद्धेर्वागात्मना परिणामे सति तद्बुद्धिद्वारा स्वयमप्यात्मा वागभिमानी भूत्वाऽनन्तरं वाचोऽपि बुद्धिव्यापाररूपाया नामात्मना वक्तव्यशब्दरूपेण परिणामे सति वाचा वाग्द्वारा सर्वाणि नामान्याप्नोति। तत्स्फुरणात्मना [६]स्वयमपि वर्तत इति श्रुत्यर्थः। एवं प्रज्ञया चक्षुरित्यादिष्वप्यर्थो द्रष्टव्यः। अत्र बुद्धेर्वागाद्यात्मना परिणामो वागादेश्च नामाद्यात्मना परिणाम उक्त इत्यर्थः। मनसा ह्येव पश्यतीत्यत्र मनसः साक्षाद्दर्शनादिकरणत्वायोगाच्चक्षुरादिभावमापन्नस्य दर्शनादिकरणत्वमुक्तमिति भावः। एवं हृदयेन हीत्यत्रापि द्रष्टव्यम्। आदिशब्देन "हृदये ह्येव रूपाणि [७]प्रतिष्ठितानि भवन्तीति" रूपाणां हृदयशब्दितबुद्ध्यात्मकत्वमुक्तं संग्राह्यम्। एवं हृदयस्य सर्वकरणात्मत्वमुक्त्वेदानीं तस्य प्राणात्मत्वमाह — तदात्मकश्चेति। एवं हृदयमनोद्वारा प्राणस्य सर्वकरणात्मत्वमुक्त्वा साक्षा-

---

की सृष्टि हुई है। हृदय से मन हुआ और मन से चन्द्रमा, वही यह हृदय मन भी है। वह एक ही अनेक रूप हो रहा है। इसी नेत्रात्मक अन्तःकरण से रूप को देखता है, श्रोत्र से श्रवण करता है, घ्राणरूप से सूंघता है, वाग्रूप से बोलता है, जिह्वारूप से रसास्वादन करता है, स्वयं संकल्प-विकल्प रूप मन से संकल्प करता है और हृदय रूप से निश्चय करता है। अतः उपलब्धा की समस्त उपलब्धियों के लिये इन्द्रिय सम्बन्धी सम्पूर्ण व्यापारों को करने वाला यही एक साधन है। ऐसा ही कौषीतकि उपनिषद् में कहा है "प्रज्ञारूप वाणी पर आरूढ़ होकर वाणी से सभी नामों को ग्रहण करता है, प्रज्ञा द्वारा नेत्र इन्द्रिय पर आरूढ़ होकर नेत्र से समस्त रूपों को देखता है" इत्यादि। तथा बृहदारण्यक में भी कहा है "मन से ही देखता है, मन से ही सुनता है, हृदय से ही रूपों को जानता है" इत्यादि। अतः हृदय और मन शब्द वाचक अन्तःकरण का ही साधनत्व सभी उपलब्धियों में प्रसिद्ध है। प्राण भी तद्रूप ही है।

---

१. स्वेनैव — स्वाभिन्नेनैव। २. विकल्पनारूपेण — संशयरूपेणेत्यर्थः। ३. विकल्पयति — संशेत इत्यर्थः। ४. तदात्मकः — हृदयमनोवाच्यान्तःकरणात्मकः। ५. व्यापारः — परिणामः। ६. स्वयमपीति — सर्वनामतादात्म्यापन्नस्फुरणरूपेणात्माप्यवतिष्ठत इत्यर्थः। ७. प्रतिष्ठितानि भवन्ति — तत्तादात्म्यापन्नानि भवन्तीत्यर्थः।

प्राण इति ब्राह्मणम्। करणसंहतिरूपश्च प्राण इत्यवोचाम प्राणसंवादादौ। [1]तस्माद्य-त्प्रपदाभ्यां प्रापद्यत ब्रह्मैतदुपलब्धुरुपलब्धिकरणत्वेन गुणभूतत्वान्नैव वस्तु ब्रह्मोपास्यात्मा भवितुमर्हति। पारिशेष्याद्यस्योपलब्धुरुपलब्ध्यर्था एतस्य हृदयस्य मनोरूपस्य करणस्य वृत्तयो वक्ष्यमाणाः स उपलब्धोपास्य आत्मा नो भवितुमर्हतीति निश्चयं कृतवन्तः।

[2]तदन्तःकरणोपाधिस्थस्योपलब्धुः प्रज्ञानरूपस्य ब्रह्मण उपलब्ध्यर्था या अन्तः-करणवृत्तयो बाह्या[3]न्तर्वर्तिविष्यविषयास्ता इमा उच्यन्ते —

देव प्राणस्य तदाह — करणसंहतीति। तव वयं स्मो "न शक्ष्यामस्त्वदृते जीवितुम्" (बृ. ६-१-१३)। इतरे चक्षुरादयः [4]प्राणा इत्येवाऽऽख्यान्त इत्या[5]दिप्राणसंवादस्थवचनबलात्करणसंहतिरूपत्वं करण-समूहरूपत्वं प्राणस्यावगतमित्यर्थः। आदिशब्देन संवर्गविद्यादिगतं "प्राणमेव वागप्येति प्राणं चक्षुः प्राणं श्रोत्रं प्राणं मनः' (छा. ४-३-३) "स यदा प्रतिबुध्यते प्राणादधि पुनर्जायत" इत्यादिवाक्यं ग्राह्यम्। करणस्यानात्मत्वमुक्तमुपसंहरति — तस्मादिति। ब्रह्मेति। ब्रह्मत्वेनोपास्यो ज्ञातव्य आत्मेत्यर्थः। तर्हि कस्तथा ज्ञातव्य इत्यत आह — पारिशेष्यादिति। वक्ष्यमाणा इति। संज्ञानमित्यादिना वक्ष्यमाणा इत्यर्थः।

येन वा पश्यतीत्यादि मनश्चैतदित्यन्तं प्राणस्य करणत्वेनानात्मत्वार्थमित्युक्त्वा संज्ञानमित्यादि वश इत्यन्तमन्तःकरणवृत्तिद्वारा तद्व्यतिरिक्तमुपलब्धारं दर्शयितुमित्याह — तदन्तःकरणेति। निर्विशेषस्य कथं वृत्तिविषयत्वमन्यथा[6]कथं तदुपलब्ध्यर्थता तासां स्यादत आह — [7]बाह्यान्तर्वर्तिविषयेति। तर्हितासामान्यविषयत्वे[8]ततो बाह्यान्तर्विषयप्रतीतिरेव स्यान्नाऽऽत्मन इत्यत आह — उपलब्ध्यर्था इति। निर्विशेणत्वेनाविषयत्वेन चैतस्य साक्षादिदंतया ज्ञानासंभवेऽपि संज्ञानाद्यन्तःकरणवृत्तिसाक्षितयाऽविषयत्वेनैव तस्योपलब्धिः संभवतीत्यर्थः। अविषयत्वार्थं प्रज्ञानरूपस्येति विशेषणम्। प्रकृष्टा ज्ञप्तिः स्वप्रकाशचैतन्यं तस्य विषयत्वे स्वप्रकाशत्वव्याहतिरित्यर्थः। ब्रह्मण इति विशेषणं निर्विशेषत्वार्थम्। सविशेषत्वे हि तस्य [9]परिच्छेदेन ब्रह्मत्वं न स्यादित्यर्थः। नन्वसङ्गस्य कथमन्तःकरणवृत्तिसंबन्धः स्यादत आह — अन्तःकरणोपाधिस्थस्येति। असङ्गस्याप्यन्तःकरणप्रतिबिम्बद्वारा

इसीलिये "जो प्राण है वही प्रज्ञा है और जो प्रज्ञा है, वही प्राण है" ऐसा कौषीतकि ब्राह्मण वाक्य है। इन्द्रियों का संघातरूप प्राण है, यह बात हम प्राण स्वादादि प्रकरणों में कह आये हैं। अतः जो चरणों की ओर से प्रविष्ट हुआ था, ब्रह्म उपलब्धा की उपलब्धि का साधन होने से गौण होने के कारण मुख्य आत्मा नहीं हो सकता। अतः पारिशेष्य नियमानुसार जिस उपलब्धा की उपलब्धि के लिये इस हृदय एवं मनोरूप अन्तःकरण के आगे कहे जाने वाली वृत्तियाँ होती हैं, वही उपलब्धा हमारा उपास्य आत्मा है। ऐसा उन्होंने निश्चय किया।

---

१. तस्मात् — प्राणस्य करणत्वात्। २. तदिति — हृदयमनोवाच्येत्यर्थः। ३. अन्तर्वर्तीति — सुखादीत्यर्थः। ४. प्राणा इति "न वै वाचो न चक्षूंषि न श्रोत्राणि न मनांसीत्याचक्षते प्राणा इत्येवाचक्षते प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवति" इति छान्दोग्यश्रुतिः। प्राणशब्देनैवोच्यन्त इत्यर्थः। ५. आदिशब्देन — "हन्तास्यैव सर्वे रूपमसामेति त एतस्यैव सर्वे रूपमभवंस्तस्मादेत एतेनाख्यायन्ते प्राणा इति तेन ह वाव तत्कुलमाचक्षते यस्मिन्कुले भवती" त्यादिग्राह्यम् (बृ. उ. १।५।२१)। ६. चेति शेषः। ७. बाह्येत्यादि — तथा च तत्त्वानभ्युपगमान्न तस्य तत्त्वक्षतिरिति भावः। ८. ततो वृत्तितः। ९. परिच्छेदेनेति — येन विशेषेण विशिष्टं तद्भिन्नत्वाद्वस्तुपरिच्छेदेनेत्यर्थः।

संज्ञानं संज्ञप्तिश्चेतनभावः आज्ञानमाज्ञप्तिरी[1]श्वरभावः। विज्ञानं कलादि-परिज्ञानम्। प्रज्ञानं प्रज्ञप्तिः प्रज्ञता। मेधा ग्रन्थधारणसामर्थ्यम्। दृष्टिरिन्द्रियद्वारा [2]सर्वविषयोपलब्धिः। धृतिर्धारणम[3]वसन्नानां शरीरेन्द्रियाणां ययो[4]त्तम्भनं भवति। धृत्या शरीरमुद्वहन्तीति हि वदन्ति। मति[5]र्मननम्। मनीषा तत्र स्वातन्त्र्यम्। जूतिश्चेतसो रुजादिदुःखित्वभावः। स्मृतिः स्मरणम्। संकल्पः शुक्लकृष्णादिभावेन संकल्पनं रूपादीनाम्। क्रतुर[6]ध्यवसायः। असुः प्राणनादिजीवनक्रियानिमित्ता वृत्तिः। कामोऽसंनिहित-विषयाकाङ्क्षा तृष्णा। वशः स्त्रीव्यतिकराद्यभिलाषः। इत्येवमाद्या अन्तःकरणवृत्तयः

तद्वृत्तिसंबन्ध इत्यर्थः। चेतनभाव इति। यथा वृत्त्या चेतन इत्युच्यते जन्तुः सा वृत्तिः सर्वदा सर्वशरीरव्यापिनी संज्ञानमित्यर्थः। कलादिपरिज्ञानं चतुःषष्टि[7]कलादिजन्यं लौकिकं ज्ञानमित्यर्थः। प्रज्ञतेति। तात्कालिकप्रतिभेत्यर्थः। ययोत्तम्भनं भवति सा वृत्तिर्धृतिरित्यन्वयः। शरीराद्युत्तम्भकस्य वृत्तिविशेषस्य धृतित्वे लौकिकं व्यवहारं मानमाह— धृत्येति। तत्र स्वातन्त्र्यमिति। मनस ईषा [8]मनीषेति व्युत्पत्तेरित्यर्थः। रुजादिदुःखित्वभाव इति। [9]रोगादिजन्यदुःखित्वप्राप्तिरित्यर्थः। संकल्पनमिति। सामान्येन प्रतिपन्नानां रूपादीनां शुक्लादिरूपेण सम्यक्कल्पनमित्यर्थः। जीवनक्रियेति। [10]जीवनप्रयत्न इत्यर्थः। स्त्रीव्यतिकरेति। स्त्रीसंपर्केत्यर्थः। इतिशब्दस्य [11]प्रदर्शनार्थत्वमाह —इत्येवमाद्या इति। एवमाद्या वृत्तयः प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्तीत्युत्तरेणान्वयः। अत्र प्रज्ञानशब्देन पूर्ववत्प्रज्ञता वृत्तिरूपा

उस अन्तःकरण रूप उपाधि में स्थित प्रज्ञानरूप उपलब्धा ब्रह्म की उपलब्धि के लिये जो बाह्य और आन्तरकि विषयों में सम्बन्ध रखने वाली अन्तःकरण की वृत्तियाँ हैं वे इन नामों से कही जाती हैं।

संज्ञान :- संज्ञप्तिरूप चैतन्यभाव, **आज्ञान :-** आदेश करना रूप ईश्वरभाव, **विज्ञान :-** कलादि का, ज्ञान **प्रज्ञान :-** प्रज्ञप्ति अर्थात् समयोचित बुद्धि स्फुरित हो जानारूप प्रतिभा, **मेधा :-** ग्रन्थ धारण की शक्ति, **दृष्टि** – इन्द्रियों द्वारा सब विषयों को जानना, **धृति :-** धारण करना अर्थात् जिससे शिथिल हुए शरीर और इन्द्रियों में जागृति होती है क्योंकि धृति से ही शरीर को उठाकर ब्रह्म करते हैं ऐसा पण्डित लोग कहते हैं। **मति :-** मननकरना, **मनीषा :-** मनन करने में स्वतन्त्रता, **जूति :-** रोगादि से चित्त का दुःखी होना, **स्मृति :-** स्मरण, **संकल्प :-** शुक्ल कृष्णादि भाव से रूपादि का संकल्प करना, **क्रतु :-** निश्चय **असु :-** जीवन हेतु श्वास उच्छ्वासादि क्रिया, **काम :-** अप्राप्त विषय की इच्छा, तृष्णा और **वश :-** स्त्री संसर्गादि की अभिलाषा इत्यादि प्रकार की अन्तःकरण की वृत्तियाँ प्रज्ञप्तिरूप उपलब्धा की उपलब्धि

---

१. योगानुष्ठानजनितविशेषज्ञानमीश्वरभावः। २. सर्वविषयोपलब्धिरिति — विषयेन्द्रियसन्निकर्षजन्या वृत्तिरित्यर्थः। ३. अवसन्नानामिति — शिथिलानां पतनोन्मुखानामिति यावत्। ४. उत्तम्भनम् — उद्वहनं पतनाभावसम्पादनमिति यावत्। ५. मननम् — राजकार्याद्यालोचनरूपम्। ६. अध्यवसायः — इदमहमवश्यं करिष्यामीत्येवंरूपा वृत्तिः। ७. कलादिजन्यमिति — कलयति ज्ञापयति सङ्गीतादीनिति कला सङ्गीतादिशास्त्रमित्यर्थः। ८. इतरनिरपेक्षया यया प्रेरितं वृत्त्या मनो मनने प्रवर्तते सा मनः प्रेरिका मनने वृत्तिः स्वतन्त्रा मनीषेत्यर्थः। ९. रोगादीति — रोगादिजन्या दुःखाकारा वृत्तिरित्यर्थः। १०. जीवनेति — जीवनयोनिप्रयत्न इति पाठान्तरम्। जीवनानुकूलव्यापारजनिका वृत्तिरित्यर्थः। ११. प्रदर्शनार्थत्वमिति — उपलक्षणार्थत्वमित्यर्थः।

प्रज्ञप्तिमात्रस्योपलब्धुरुपलब्ध्यर्थत्वाच्छुद्धप्रज्ञानरूपस्य ब्रह्मण उपाधिभूतास्तदुपाधिजनितगुणनामधेयानि भवन्ति संज्ञानादीनि।

सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञप्तिमात्रस्य प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति न [1]स्वतः साक्षात्। तथा चोक्तं प्राणन्नेव प्राणो नाम भवतीत्यादि।।२।।

नोच्यते तस्याः संज्ञानादिनामवत्त्वानुपपत्तेः, किंतु शुद्धचैतन्यमुच्यत इत्याह — प्रज्ञप्तिमात्रस्येति। नन्वन्तःकरणवृत्तीनां शब्दरूपत्वाभावात्कथं प्रज्ञाननामधेयत्वमित्याशङ्क्य नामधेयस्य नाम्न्यर्थोपलब्धिहेतुत्वात्संज्ञानादिवृत्तीनामपि प्रज्ञानोपलब्धिहेतुत्वात्तेन गुणेन तन्नामधेयत्वमुपचारादुच्यते न मुख्यया वृत्त्येत्याह — उपलब्धुरुपलब्ध्यर्थत्वादिति। उपलब्धुरुपलब्ध्यर्थत्वं वा कथमित्याशङ्क्य तदुपाधित्वादित्याह — शुद्धेति। यत उपाधिभूता अत उपलब्ध्यर्था अतो गौण्या वृत्त्या नामधेयानि भवन्तीत्यर्थः। यद्वा श्रुतौ संज्ञानादिशब्दैर्न वृत्तय उच्यन्ते किंतु संज्ञानादिशब्दा एव [2]लक्षणयाऽभिधीयन्ते गामुच्चारयतीत्यत्रेव। [3]तथा च संज्ञानादिशब्दाः संज्ञानादिवृत्तिविशिष्टप्रज्ञानस्य नामधेयानि [4]सन्ति, तद्द्वारा शुद्धस्यैव प्रज्ञानस्य लक्षणया नामधेयानीत्याह — तदुपाधिजनितेति। वृत्त्युपाधिजनितो गुणो वृत्त्युपहितं रूपं तन्नामधेयानि सन्ति सर्वाण्येवैतानि संज्ञानादीनि संज्ञानादिशब्दाः प्रज्ञानस्यैव नामधेयानि भवन्तीत्यन्वयः।

प्राणन्नेवेति। प्राणनक्रियां कुर्वन्प्राणो नाम भवतीत्यनेन प्राणनवृत्त्युपाधिकमात्मनः प्राणनामवत्त्वमुक्तम्। यद्यपि संज्ञानादिनाम्नां [5]तत्र नौ[6]पाधिकत्वमुक्तं तथाऽपि तुल्यन्यायतयैतेषामप्यौपाधिकत्वमुक्तप्रायमिति भावः। एतदुक्तं भवति — संज्ञानादिशब्दाः प्रकाशात्मकवस्तुवाचिनः[7]। न च [8]साक्षादन्तःकरणवृत्तीनां जडानां प्रकाशात्मकत्वं संभवतीति प्रकाशात्मकवस्तुन्यध्यासादेव तासां प्रकाशात्मकत्वमिति कल्पयन्तोऽधिष्ठानभूतमतिरिक्तं प्रकाशं गमयन्तः [9]पर्यवसानगत्या प्रकाशात्मनः प्रज्ञानस्यैव नामधेयानीति। [10]अत्र संज्ञानादीना[11]मनित्यत्वेन जडानां वृत्तीनां प्रकाशात्मकवस्तुवाचकसंज्ञानादिनामकत्वानुपपत्तेस्तद्व्यतिरिक्तः कश्चित्प्रकाशरूपोऽस्तीत्युक्तम्। तथा संज्ञानादिशब्दवाच्यत्वोक्त्या तत्प्रज्ञानं [12]विज्ञानं प्रज्ञानमित्यत्रेव प्रज्ञतारूपा वृत्तिर्न भवतीत्युक्तम्। तस्याः संज्ञानादिवाच्यत्वानुपपत्तेः। तथा संज्ञानादीनि सर्वाण्येकस्य प्रज्ञानस्य नामानीत्युक्त्या च तत्प्रज्ञानमेकं सर्ववृत्त्यनुगतमित्युक्तं तदनेकत्वे तत्तद्वृत्तिगतानां प्रज्ञानानां तत्तन्नामकत्वेन सर्वनामकत्वानुपपत्तेः। प्रज्ञानस्येत्येकवचनानुपपत्तेश्च। [13]अतो येन वा पश्यतीत्यादिना नामधेयानि भवन्तीत्यन्तेन सर्वकरणतद्वृत्तिव्यतिरिक्तः स्वप्रकाशात्मकः सर्वसाक्षी सर्ववृत्त्यनुगत एक [14]आत्मा शोधितः।।२।।

के लिये होने के कारण एवं विशुद्ध बोध स्वरूप ब्रह्म की उपाधिरूप हैं।

अतः उसकी उपाधि जनित गुणवृत्ति से ये संज्ञान आदि उसी ब्रह्म के नाम हैं, ये सभी प्रज्ञप्ति मात्र प्रज्ञान के ही नाम हैं, स्वतः कुछ नहीं। ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है "प्राणन करने के कारण ही

---

१. स्वतःसाक्षादिति — उपहितमद्वारीकृत्येत्यर्थः। २. शब्दशास्त्रादन्यत्रापि शब्दानां स्वरूपपरत्वं सदृष्टान्तमुपपादयति — लक्षणयेत्यादिना। ३. तथा चेति — तेषां स्वरूपपरत्वे चेत्यर्थः। ४. आद्यं भवन्तीति सुबन्तमित्याशयेन व्याचष्टे — सन्तीति। ५. तत्र प्राणन्वाक्ये। ६. औपाधिकत्वम् — संज्ञानादिवृत्तिरूपोपाधिप्रवृत्तिनिमित्तकत्वम्। ७. श्रुतेस्तत्रैव तात्पर्यनिर्णयादिति भावः। ८. साक्षादिति — स्वरूपेणेत्यर्थः। ९. अन्ततोगत्वा फलतः अर्थादितिपर्यायपरम्परा। १०. अत्र सर्वाणीत्यादिवाक्ये। ११. जडत्वे हेतुरयम्। १२. पूर्ववाक्यस्थं व्यतिरेकेणोदाहरति — विज्ञानं प्रज्ञानमित्यत्रेवेति। १३. अतः — एकत्वात्। १४. त्वंपदार्थ इत्यर्थः।

एषब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्वे देवा इमानि च पञ्च महाभूतानि पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतींषीत्येतानीमानि च क्षुद्रमिश्राणीव बीजानीत[१]-राणि चेतराणि चाण्डजानि च जारुजानि च

यह प्रज्ञानरूप आत्मा ही परात्पर ब्रह्म है, यही इन्द्र है, यही प्रजापति है, यही अग्न्यादि सारे देव तथा पृथिवी, वायु, आकाश, जल और तेज ये पाँच भूत है, यही क्षुद्र जीवों के सहित उनके बीज एवं अन्य-अन्य अण्डज, जरायुज, स्वेदज, उद्भिज्ज, अश्व, गौ, मनुष्य और हाथी है तथा जो कुछ भी यह

---

[२]स एष प्रज्ञानरूप आत्मा ब्रह्मापरं सर्वशरीरस्थः प्राणः प्रज्ञात्माऽन्तःकरणोपाधिष्वनुप्रविष्टो जलभेदगतसूर्यप्रतिबिम्बवद्धिरण्यगर्भः प्राणः प्रज्ञात्मा। [३]एष एवेन्द्रो गुणा-

---

एवं शोधितस्याऽऽत्मनः प्रतिशरीरं नानात्वं वारयितुमेष ब्रह्मेत्यादि वाक्यं तद्व्याचष्टे — स एष इत्यादिना। एष इत्यस्यार्थमाह — प्रज्ञानरूप आत्मेति। प्रज्ञानं ब्रह्मेति मुख्यब्रह्मताया वक्ष्यमाणत्वादिह मूर्धद्वाराऽनुप्रविष्टं समष्टिलिङ्गशरीराभिमानिहिरण्यगर्भप्राणप्रज्ञात्मादिशब्दैस्तत्र तत्रोक्तमपरं ब्रह्मोच्यत इत्याह — अपरमित्यादिना। सर्वशरीरेत्यनेन समष्टिस्थूलशरीरमुच्यते। अन्तःकरणोपाधिष्वित्यनेनापि समष्टिलिङ्गशरीरमुक्तम्। आद्याभ्यां प्राणप्रज्ञात्मशब्दाभ्यां क्रियाशक्तिज्ञानशक्तिमत्त्वमुक्तम्। द्वितीयाभ्यां तु [४]तत्र तत्र तथा निर्दिष्ट इत्युच्यत इत्यपौनरुक्त्यम्। ननू[५]क्तप्रज्ञानात्मैवापरं ब्रह्मेत्यत्र किं प्रमाणमित्याशङ्क्य [६]प्रवेशवाक्यं प्रमाणमिति वक्तुमेष इन्द्र इति वाक्यमिति व्याचष्टे — एष इति। गुणादिति। इदमदर्शमितिश्रुत्युक्त[७]गुणयोगादित्यर्थः। प्रवेशवाक्ये प्रविष्टस्येन्द्रत्वाभिधानाद्धिरण्यगर्भस्यापीन्द्रत्वोक्तौ प्रविष्टत्वप्रत्यभिज्ञानात्[८]प्रवेष्टुरेव प्रविष्टसर्वरूपत्वादभेदः सिध्यतीति भावः। न तु पारमैश्वर्यगुणयोगात्प्रज्ञानात्मेन्द्रः परमेश्वर इत्यर्थो ग्राह्यः। प्रज्ञानात्मनः परमेश्वराभेदस्य प्रज्ञानं ब्रह्मेत्यनेन वक्ष्यमाणत्वात्परमेश्वरत्वगुणवत्त्वप्रतिपादनस्य च [९]प्रकरणविरोधात्। न च हिरण्यगर्भाद्यात्मत्ववन्मायाविशिष्टपरमेश्वरात्मत्वमनेनोच्यत इति वाच्यम्। तथा सति भाष्योक्त-

---

वह प्राण वाला है" इत्यादि।।२।।

प्रज्ञान की व्यापकता

वह यह प्रज्ञानरूप आत्मा ही अपर ब्रह्म है अर्थात् सम्पूर्ण इन्द्रियों में स्थित प्राण प्रज्ञात्मा है। जैसे विभिन्न जलपात्रों में पड़े हुए प्रतिबिम्ब का कारण सूर्य एक है, वैसे ही अन्तःकरण रूप उपाधियों में अनुप्रविष्ट हिरण्यगर्भ प्राण अर्थात् प्रज्ञात्मा है। यही गुण के कारण इन्द्र या देवराज

---

१. इतराणि चेतराणीति — अन्यान्यानीत्यर्थः। परस्परवैलक्षण्योपेतानीति यावत्। २. स बुद्धिस्थः। एष समीपतरवर्ती। ३. एष हिरण्यगर्भः। ४. तत्र तत्र श्रुतिवाक्येषु। ५. शोधितेत्यर्थः। ६. प्रवेशवाक्यं ग्राह्यं मूर्धविदारणपूर्वकप्रवेशप्रतिपादकम्। ७. गुणेति — ईश्वरवृत्तिसर्वविषयकापरोक्षज्ञानवत्त्वरूपगुणस्य हिरण्यगर्भे सम्बन्धादित्यर्थः। ८. प्रवेष्टुः हिरण्यगर्भस्य। ९. प्रकरणविरोधात् — निर्गुणस्यैव प्राकरणिकत्वादिति भावः।

स्वेदजानि चोद्भिज्जानि चाश्वा गावः पुरुषा हस्तिनो यत्किं[1]चेदं प्राणि जङ्गमं च पतत्रि च यच्च स्थावरं सर्वं तत्[2]प्रज्ञानेत्रं [3]प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं [4]प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा [5]प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म।।३।।

जंगम आकाशगामी पक्षी और वृक्षादिरूप स्थावर वर्ग है वह सब प्रज्ञानेत्र और निरुपाधिक प्रज्ञान में ही स्थित है, लोक प्रज्ञानेत्र वाला है, प्रज्ञान ही उसका विलयस्थान है। अतः प्रज्ञान ही ब्रह्म है।।३।।

द्वेवराजो वा। एष प्रज्ञापतिर्यः प्रथमजः शरीरी। [6]यतो मुखादिनिर्भेदद्वारेणाग्न्यादयो लोकपाला जाताः। स प्रजापतिरेष एव। येऽप्येतेऽग्न्यादयः सर्वे देवा एष एव। इमानि च सर्वशरीरोपादानभूतानि पञ्च पृथिव्यादीनि महाभूतान्यन्नान्नादलक्षणान्येतानि। [7]किंचेमानि च क्षुद्रमिश्राणि [8]क्षुद्रैरल्पकै[9]र्मिश्राणि। इवशब्दोऽनर्थकः।

गुणादितिहैव[10]न्नन्वयादेष ब्रह्मैष प्रजापतिरिति पूर्वोत्तरपर्यायेष्विव गुणयोगाभावेऽप्यु[11]पपत्तेश्चेति। अस्य व्याख्यानस्य [12]क्लिष्टत्वं मनसि निधायार्थान्तरमाह – देवराजो वेति। प्रजापतेर्हिरण्यगर्भाद्भेदमाह – यः प्रथमज इति। स लिङ्गशरीराभिमान्ययं तु स्थूलशरीराभिमानीति भेद इत्यर्थः। [13]तत्राद्भ्य एव पुरुषं समुद्धृत्यामूर्छयन्मुखं निरभिद्यतेत्यादिवाक्यं प्रमाणमाह – यत इति। देवग्रहणं मनुष्यादीनामुपलक्षणम्। तथा च सर्वे जीवात्मान एष एवेत्यर्थः। एवमेष ब्रह्मेत्यादिवाक्येष्वै[14]क्ये सामानाधिकरण्यं गृहीत्वा सर्वभूतस्थस्याऽऽत्मन एकत्वमुक्त्वा सजातीयभेदं निराकृत्य तदुपाधीनां भूतभौतिकानामपि [15]बाधायां सामानाधिकरण्यमाश्रित्याऽऽत्मव्यतिरेकेणाभावं [16]तस्य विजातीयभेद-निराकरणार्थं वक्तुमिमानि चेत्यादिवाक्यं तद्व्याचष्टे – इमानि चेति। एतान्यन्नान्नदत्वेन [17]पूर्वमुक्तानीति वक्तुं विशिनष्टि – अत्रेति।

है। यही प्रजापति है, जो सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ देहधारी है जिससे मुखादि निर्भेद द्वारा अग्नि आदि लोकपाल पैदा हुए हैं; वह प्रजापति भी यही है और ये जो भी अग्नि आदि सम्पूर्ण देवता हैं, वे यही हैं। ये जो सभी शरीरों के उपादानरूप एवं अन्न और अन्न भक्षक भाव को प्राप्त हुए पृथिवी आदि पञ्चभूत हैं, अल्प जीवों के सहित जो ये सर्पादि क्षुद्रजीव हैं तथा कारण और कार्यवर्ग ऐसे पृथक्-पृथक् दो भागों में निर्दिष्ट हैं "क्षुद्रमिश्राणीव" इसमें 'इव' शब्द का प्रयोग कोई अर्थ

---

१. इदमिति – प्रत्यक्षादिगोचरीभूतमित्यर्थः। २. प्रज्ञानेत्रमिति – नीयतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या सत्ताप्रापकंप्रेरकं च नेत्रम्। ३. अनेनोत्पत्त्यधिष्ठानत्वमुक्तम्। ४. प्रज्ञानेत्रो लोक इति – अनेन स्थित्यधिष्ठानत्वमुक्तं वेदितव्यम्। नेत्रं व्यवहारसाधकम्। ५. अनेन लयाधिष्ठानत्वमुक्तम्। ६. यतः – विराजः सकाशात्। ७. इमानि चेति चकारव्याख्यानं किञ्चेति। ८. क्षुद्रैः – मशकपिपीलिकादिभिः। ९. मिश्राणि – सहितानीत्यर्थः क्षुद्राण्यपि स एवेत्यर्थः। १०. अनन्वयादिति – विवक्षिते त्वंपदलक्ष्यार्थे। हेतोः पारमैश्वर्यगुणस्य। अनन्वयादसंभवादित्यर्थः। लक्ष्यस्य निर्धर्मकत्वादिति भावः। ११.उपपत्तेः प्रज्ञानात्मनः परमेश्वरतोपपत्तेः। १२. क्लिष्टत्वम् – अक्षरस्वारस्येनाप्रतीयमानत्वमित्यर्थः। तच्चैतच्छब्दस्य प्रकृतपरामर्शित्वमपहायाप्रकृतहिरण्यगर्भपरामर्शित्वाभ्युपगमादिरूपं वेदितव्यम्। १३. तत्र – प्रजापतेः स्थूलाभिमानित्वे। १४. ऐक्ये – अभेदरूपं मुख्यसामानाधिकरण्यं गृहीत्वा न तु बाधसामानाधिकरण्यमित्यर्थः। १५. बाधायामिति – बाधविषयकबोधजनकं सामानाधिकरण्यमित्यर्थः। १६. तस्य – प्रतीचः। १७. पूर्वमुक्तानीति द्वितीयारण्यके।

सर्पादीनि [1]बीजानि कारणानीतराणि चेतराणि च द्वैराश्येन निर्दिश्यमानानि। कानि तानि उच्यन्ते। अण्डजानि पक्ष्यादीनि। जारुजानि जरायुजानि। मनुष्यादीनि। स्वेदजानि यूकादीनि। उद्भिज्जानि च वृक्षादीनि। अश्वा गावः पुरुषा हस्तिनोऽन्यच्च यत्किंचेदं प्राणिजातम्। किं तत्। जङ्गमं यच्चलति [2]पद्भ्यां गच्छति। यच्च पतत्रि। आकाशेन पतनशीलम्। यच्च स्थावरमचलं [3]सर्वं तदशेषतः प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञप्तिः प्रज्ञा तच्च ब्रह्मैव नीयतेऽनेनेति नेत्रं प्रज्ञैव नेत्रं यस्य तदिदं प्रज्ञानेत्रम्। प्रज्ञाने ब्रह्मण्युत्पत्ति-स्थितिलयकालेषु प्रतिष्ठितं प्रज्ञानाश्रयमित्यर्थः। प्रज्ञानेत्रो [4]लोकः पूर्ववत्। [5]प्रज्ञाचक्षुर्वा

सर्पादीनां न केवलं क्षुद्रमिश्रत्वं किंतु सर्पान्तरादीन्प्रति बीजत्वं चेत्याह — [6]कारणानि चेति। द्वैराश्येनेति। स्थावरजङ्गमभेदेन निर्दिश्यमानानीत्यर्थः। स्वेदजा [न्ता ?] नि जङ्गमान्युद्भिज्जानि स्थावराणीत्याह — उच्यन्त इति। जङ्गममित्यस्य व्याख्या यच्चलतीति। स्थावराणामपि वाय्वादिना चलनमस्तीत्याशङ्क्याऽऽह — पद्भ्यामिति। स्थावरमचलमित्यनन्तरं सर्वं तदेष एवेति शेषः। तत्सर्वमेष एवेत्यत्र हेतुं वक्तुं सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रमित्यादि प्रतिष्ठेत्यन्तं वाक्यं तद्व्याचष्टे — सर्वमित्यादिना। नीयतेऽनेनेति। अनेन प्रज्ञानेन सत्तां नीयते सत्तां प्राप्यते सत्तावत्क्रियत इत्यर्थः। यद्वा स्वस्वव्यापारेषु प्रवर्त्यत इति [7]वा। नन्वेवंभूतं ब्रह्मैवेत्युपनिषत्सु प्रसिद्धं न तु [8]प्रज्ञानमित्याशङ्क्य वस्तुतः प्रज्ञानस्यैव तत्र तत्र ब्रह्मशब्देनाभिधानान्न दोष [9]इत्युक्तं प्रज्ञानं ब्रह्मैवेति। यद्वा कोऽयमात्मेत्यारभ्यैते सर्वे देवा इत्यन्तं त्वंपदार्थशोधनार्थमिमानि चेत्यादि प्रतिष्ठेत्यन्तं तत्पदार्थशोधनार्थम्। [10]तत्र पक्षे [11]प्रकृष्टं ज्ञानं प्रज्ञानमिति तत्पदार्थो ब्रह्मैवोच्यते। पञ्चभूतादि स्थावरान्तं सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रं ब्रह्मनेत्रमित्यर्थः। प्रज्ञासत्तयैव सर्वस्यापि सत्तावत्त्वं साधयितुं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितमित्युक्तम्, तद्व्याचष्टे — प्रज्ञाने ब्रह्मणीति। न केवलं प्रज्ञासत्तयैव सत्त्वं सर्वस्य किंतु प्रवृत्तिरपि तदधीनैवेत्याह — प्रज्ञानेत्र इति। पूर्ववदिति। नीयते प्रवर्त्यतेऽनेनेतिव्युत्पत्तेर्नेत्रं प्रवर्तकमित्यर्थः। लोक इति। सर्वं जगदित्यर्थः। यद्वा पूर्वं नेत्रशब्देन सर्वस्य सत्ता[12]व्यापारहेतुत्वमुक्तमिदानीं सर्वस्य स्फुरणहेतुरप्ययमेवेत्युच्यत इत्याह — प्रज्ञाचक्षुर्वेति।

नहीं रखता है।

वे कौन-कौन हैं? इसे बतलाते हैं पक्षी आदि अण्डज मनुष्य आदि जरायुज, जूँ आदि स्वेदज वृक्ष आदि उद्भिज्ज और अश्व, गौ, पुरुष हाथी एवं अन्य भी ये जो कुछ प्राणी हैं वे कौन-कौन से हैं? जो पैरों से चलने वाले जंगम हैं जो आकाश में उड़ने वाले पक्षी हैं और जो न चलने वाले स्थावर है, वे सब ये ही हैं अर्थात् वे सब के सब प्रज्ञा नेत्र हैं। प्रज्ञप्ति को प्रज्ञा कहते हैं और वह ब्रह्म ही है तथा जिससे नयन किया जाय, उसे नेत्र कहते हैं। इस प्रकार चेतन ही जिसका नेता है, वह प्रज्ञा नेत्र कहलाता है तथा उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के समय प्रज्ञान ब्रह्म में स्थित रहने वाले

---

१. बीजानीति — पूर्वपूर्वापेक्षयोत्तरोत्तराणि शरीराणि बीजानि भवन्ति। २. पद्भ्यामित्युपलक्षणं पशूनां चतुष्पात्त्वात्। तेऽपि पादद्वयेन तिष्ठन्त एव पादद्वयमुत्थाप्य यान्तीत्यभिप्रायकं वा। ३. सर्वं तदिति — द्वैराश्येन निर्दिष्टम्। ४. लोकः चराचरात्मकः प्रपञ्चः। ५. पूर्ववत्त्वे पौनरुक्त्यमाशङ्क्य पक्षान्तरमाह — प्रज्ञाचक्षुर्वेति। ६. कारणानि चेतीति — प्रतीकमाददद्भाष्ये चकारं मन्यते। ७. वेत्यधिकं यद्वेत्युक्तत्वात्। ८. प्रज्ञानं प्रतयक्। ९. उक्तमुपनिषदीत्यर्थः। सर्वं वाक्यं सावधारणमित्येवकारः। १०. तत्र पक्ष इति — तथा च पक्षान्तरं तु कोऽयमात्मेत्यादिरेतत्पर्यन्तो ग्रन्थः सर्वोऽपि त्वंपदार्थशोधनार्थ एवेति वेदितव्यम्। ११. प्रकृष्टम् अविद्यादियत्नराहित्यं प्रकर्षः। १२. व्यापारः प्रवृत्तिः।

सर्वं एव लोकः। प्रज्ञा [1]प्रतिष्ठा सर्वस्य जगतः। तस्मात्प्रज्ञानं ब्रह्म।

[2]तदेत[3]त्प्रत्यस्तमितसर्वोपाधिविशेषं [4]सन्निरञ्जनं निर्मलं निष्क्रियं शान्तमेकमद्वयं

चक्षुरिति स्फुरणमित्यर्थः। जगत इव प्रज्ञानस्यापि [5]स्फुरणप्रतिष्ठयोरन्याधीनत्वमाशङ्क्य तस्य स्वप्रकाशत्वात्स्वमहिमप्रतिष्ठितत्वेनाऽऽश्रयान्तराभावाच्च नैवमित्याह — प्रज्ञाप्रतिष्ठेति। यद्वा सर्वस्य जगतः [6]सत्तास्फूर्त्योः प्रज्ञानाधीनत्वादुत्पत्त्यादिष्वप्यवस्थासु प्रज्ञाने प्रतिष्ठितत्वेन तदुपादानत्वाच्च वाचारम्भणन्यायेन प्रज्ञानव्यतिरेकेणाभावात्प्रज्ञानमेव सर्पादे रज्ज्वादिरिव पर्यवसानभूमिरित्याह — प्रज्ञाप्रतिष्ठेति। प्रतिष्ठा ध्रुवं [7]पर्यवसानभूमिः परिशिष्टं [8]वस्त्वित्यर्थः। एवं [9]च प्रज्ञानस्य प्रत्यगात्मनो निर्विशेषत्वादिकं सिद्धमित्याह — तस्मादिति। प्रज्ञानस्यैव परिशिष्टत्वेन परमार्थसत्यत्वादित्यर्थः। ब्रह्मशब्दार्थमाह — प्रत्यस्तमितेति। [10]अस्मिन्पक्षे ब्रह्मशब्देन प्रत्यगात्मनो निर्विशेषत्वादिकमेव [11]सामानाधिकरण्येन [12]समर्थ्यते। ब्रह्मशब्दस्यापि निर्विशेषत्वादिकमेवार्थः। ब्रह्मशब्दस्य हि [13]व्युत्पाद्यमानस्य नित्यशुद्धत्वादयोऽर्थाः प्रतीयन्ते। [14]बृंहतेर्धातोरर्थानुगमादिति शारीरकभाष्य उक्तत्वान्न तु प्रत्यग्ब्रह्मणोरैक्यमनेन वाक्येनोच्यते। आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीदित्यात्माद्वितीयत्वेनैवोपक्रमाद्[15]ब्रह्मपदार्थानुपक्रमाच्च। [16]एवं चाऽऽत्मैव स्वाविद्यया संसरति स्वविद्यया मुच्यत इत्ययं[17] पक्षोऽत्र स्फुटीकृत इति द्रष्टव्यम्। यदा त्विमानि च पञ्च महाभूतानीत्यारभ्य तत्पदार्थशोधनार्थत्वेन व्याख्यायते तदा तत्पदार्थशोधनानन्तरं [18]वाक्यार्थकथनार्थं प्रज्ञानं ब्रह्मेति वाक्यमिति व्याख्येयम्। अत्र च पक्षेऽत्रत्यप्रज्ञानशब्देन प्रज्ञानस्य नामधेयानीत्यत्रत्येन च प्रत्यगात्मोच्यते। अत्रत्यब्रह्मशब्देन च जगत्कारणत्वो[19]पलक्षितं चैतन्यमुक्तमिति द्रष्टव्यम्। तस्मादिति चोभयोर्निर्विशेषचिद्रूपत्वाविशेषादित्यर्थः। ननु प्रज्ञानस्य ब्रह्मत्वोपदेशे किं सिध्यतीत्याशङ्क्य तस्य निर्विशेषत्वादिकं सिध्यतीति फलितार्थकथनपरत्वेन व्याख्येयं प्रत्यस्तमितेति। अन्यत्समानम्। उपाधिविशेषमिति। उपाधिकृतकर्तृत्वभोक्तृत्वदुःखित्वादिविशेषमित्यर्थः। [20]तस्य पुरुषार्थत्वमाह — शान्तमिति। परितृप्तं परमानन्दरूपमित्यर्थः। निर्विशेषत्वे मानमाह

सभी प्रज्ञा के आश्रित हैं। इस प्रकार पूर्ववत् यह लोक प्रज्ञा नेत्र है अर्थात् सभी लोकों का नेता प्रज्ञा ही है सम्पूर्ण जगत् का आश्रय प्रज्ञा ही है। अतः प्रज्ञान ही ब्रह्म है।

---

१. लयाधारः। २. तद् प्रज्ञानम्। तदेतदिति टीकाकृन्मते नास्ति। ३. प्रत्यस्तमभावमितो गतः सर्वोपाधिविशेषो यस्मादिति विग्रहः। ४. निरञ्जनं निर्मायम्। ५. स्फुरणप्रतिष्ठयोरिति — स्फुरणं भानम्। प्रतिष्ठा स्थितिः। सप्तम्यन्तमिदम्। ६. सप्तमीयम्। ७. पर्यवसानभूमिरिति — सर्वबाधाधिष्ठानम्। सर्वबाधावधिरिति यावत्। ८. अबाधिततत्त्वम्। ९. अबाधितवस्तुस्वरूपत्वे च। १०. अस्मिन् — आद्यपक्षे। ११. सामानाधिकरण्येनेति — प्रज्ञानं ब्रह्मेत्यनेनेत्यर्थः। १२. समर्प्यते पाठान्तरम्। १३. व्युत्पाद्यमानस्य — अवयवशक्त्या पर्यालोच्यमानस्येत्यर्थः। १४. बृंहतेरिति — संकोचप्रकरणोपपदाभावे वृद्धिकर्मणो बृंहतिधातोर्निरङ्कुशमहत्त्वबोधित्वादवच्छेदत्रयशून्यत्वसिद्धेर्नित्यपदस्य तत्परत्वोद्दोषभूयिष्ठत्वाद्यभावेन शुद्धत्वादजडत्वेन बुद्धत्वादविद्याद्यपरतन्त्रतया मुक्तत्वात्कुतश्चिदप्यव्यावृत्तज्ञानशक्तितया सर्वज्ञतादिसिद्धेर्धात्वर्थानुरोधादेव ब्रह्मशब्दस्य तदर्थकत्वसिद्धिः। नित्यत्वादिशून्ये निरङ्कुशमहत्त्वायोगात्तथा च पदशक्तेरेवोक्तार्थको ब्रह्मशब्द इत्यर्थः। आकाशादिपरिच्छिन्नप्रकरणे प्रयुक्तबृंहत्यादेरपि निरङ्कुशमहत्वबोधित्वं तत्र प्रकरणस्य संकोचकत्वात् निरङ्कुशत्वं निरतिशयत्वम्। उपपदं परिच्छिन्नविशेष्यपदमपि भवति संकोचकम्। वृद्धिकर्मण इति वृद्धिक्रियकस्येत्यर्थः। नित्यपदस्य तत्परत्वं स्वार्थे तात्पर्यवत्त्वम्। अत्र च बृंहत्यर्थो निरतिशयमहत्त्वमेव तत्तदर्थोपपादकं वेदितव्यं निरतिशयमहत्त्वहीनेष्वाकाशादिषु तत्तदर्थानुपलम्भादिति। १५. ब्रह्मपदार्थोनोपनिषदोऽनुपक्रमात्। १६. प्रतीचो निर्विशेषत्वादिरूपत्वे च। १७. एकजीववादात्मकः। १८. अखण्डवाक्यार्थेत्यर्थः। अस्मिन्पक्ष एवैतन्महावाक्यम्। १९. उपलक्षितम् — तदटस्थलक्षणेनेतरव्यावृत्ततया बोधितम्। २०. तस्य — प्रतीचः।

नेतिनेतीतिसर्वविशेषा[१]पोहसंवेद्यं सर्वशब्दप्रत्ययागोचरं [२]तदत्यन्तविशुद्ध[३]प्रज्ञोपाधिसंबन्धेन सर्वज्ञमीश्वरसंज्ञं भवति। [४]सर्वसाधारणाव्याकृतजगद्बीजप्रवर्तकं नियन्तृत्वादन्तर्यामिसंज्ञं भवति। तदेव व्याकृतजगद्बीजभूत[५]बुद्ध्यात्माभिमानलक्षणं हिरण्यगर्भसंज्ञं भवति। तदेवान्तरण्डोद्भूतप्रथमशरीरोपाधिमद्विराड्प्रजापतिसंज्ञं भवति। तदुद्भूताग्न्याद्युपाधिद्देवतादिसंज्ञं भवति। तथा विशेषशरीरोपाधिष्वापि। ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तेषु तत्तन्नामरूपलाभो ब्रह्मणः। तदेव चैकं सर्वोपाधिभेदभिन्नं सर्वैः प्राणिभिस्तार्किकैश्च [६]सर्वप्रकारेण ज्ञायते विकल्प्यते चानेकधा। "एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्। इन्द्रमेकेऽपरे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्" (मनु. १२-१२३) इत्याद्या स्मृतिः।।३।।

— नेतीति। सर्वेति। यतो वाचो निवर्तन्ते। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वानितिश्रुतिर्निर्विशेषानन्दत्वे मानमित्यर्थः। नन्वे[७]वंभूतस्य प्रज्ञानस्य कथं सर्वज्ञादिस्तम्बान्तनानाविधभेद इत्याशङ्क्य नानाविधोपाधिसंबन्धादित्याह — तदत्यन्तेत्यादिना। विशुद्धोपाधिसंबन्धाविशेषेऽप्यन्तर्यामिहिरण्यगर्भप्रजापतीनां सर्वज्ञाद्भेदमाह — सर्वसाधारणेति। [८]व्याकृते सर्वजगत्कारणे समष्टिबुद्धावात्मत्वाभिमान एव लक्षणमुपाधिर्यस्य तदित्यर्थः। अन्तरण्डेति। अण्डोपाधिकं विराड् [९]तदन्तर्भूतप्रथमशरीरोपाधिकः प्रजापतिरित्यर्थः। तदुद्भूतेति। तस्मादण्डादुद्भूता इमेऽग्न्यादीनामुपाधयः समष्टिवागादयस्तदुपाधिमत्प्रज्ञानमग्न्यादिदेवतासंज्ञं भवतीत्यर्थः। आदिशब्देन [१०]व्यष्टिवागाद्यभिमानिनो गृह्यन्तेऽसुरादयश्च। व्यष्टिमनुष्यादिशरीरोपाधिषु मनुष्यादिसंज्ञं भवतीत्याह — तथेति। अपीत्यमन्तरं तत्तत्संज्ञं भवतीति शेषः। उपसंहरति — ब्रह्मादीति। अत्रैवमिति शेषः। एवं ब्रह्मादिस्तम्बेति योज्यम्। ननु [११]सांख्यादिभिर्जीवानामेव नानात्वमुच्यते। अन्यैश्च जीवेश्वरनानात्वं जगत्कारणं चान्यथाऽन्यथाऽप्याहुस्तत्कथमेकस्यैव ब्रह्मणो नानारूपत्वमत आह — तदेव चैकमिति। अस्मिन्नर्थे प्रमाणमाह — एतमेक इति।।३।।

जो सम्पूर्ण औपाधिक विशेषता से रहित, नित्य, निरञ्जन, निर्मल, निष्क्रिय, शान्त, एक और अद्वय है। जो "नेति नेति" इत्यादि श्रुतिवाक्यों द्वारा क्रमशः समस्त विषयों का बाध करके जानने योग्य है तथा सभी प्रकार के शाब्दिक ज्ञान का अविषय है अत्यन्त विशुद्ध स्वरूप प्रजा उपाधि के सम्बन्ध से सर्वज्ञ तथा जगत् के सर्व साधारण अव्यक्त बीज का प्रवर्तक वह ईश्वर ही सब का नियामक होने के कारण अन्तर्यामी नाम वाला है, वही व्याकृत जगत् का बीजभूत विज्ञान आत्मा का अभिमानी हिरण्यगर्भ नाम वाला है और वही ब्रह्माण्ड के भीतर सर्वप्रथम उत्पन्न हुए शरीररूप उपाधि वाला विराट् प्रजापति नाम वाला है, वही उससे उत्पन्न हुए अग्नि आदि की उपाधि से देवता नाम वाला है तथा उस ब्रह्म को ही ब्रह्मादि स्तम्बपर्यन्त भिन्न-भिन्न शरीररूप उपाधियों में भी उनके नाम और रूप प्राप्त हुए हैं। सम्पूर्ण उपाधि भेद से विभिन्न वही एक समस्त प्राणियों और

---

१. अपोहसंवेद्यमिति — निवृत्त्युपलक्षितमित्यर्थः। २. तत् — प्रज्ञानम्। ३. प्रज्ञा — माया। ४. सर्वान्प्रतिभोग्यत्वेन समानं सर्वसाधारणम्। ५. समष्टीति शेषः। ६. सर्वप्रकारेणेति — देवतिर्यङ्मनुष्यादिरूपेणेत्यर्थः। ७. एवंभूतस्य — निःसामान्यविशेषस्य। ८. व्याकृतेति — इति प्रतीकरूपः पाठः पुस्तकान्तरे। ९. तदन्तरिति — अत्र तदन्तरुद्भूतेति पाठान्तरम्। १०. व्यष्टिवागाद्यभिमानिनः प्रसिद्धाः प्रमातार इति यावत्। ११. सांख्येत्यादि — ईश्वरानभ्युपगमादिति भावः।

स एतेन प्रज्ञेनाऽऽत्मनाऽस्माल्लोकादुत्क्रम्यामुष्मि-
न्स्वर्गे लोके सर्वान्कामानाप्त्वाऽमृतः समभवत्सम-
भवत्।।४।।

इति पञ्चमः खण्डः।।५।।

इत्यैतरेये द्वितीयारण्यके षष्ठोऽध्यायः।।६।।

वह वामदेव इस चेतनात्मस्वरूप से ही इस लोक से उत्क्रमण कर इन्द्रियातीत ब्रह्मात्मरूप स्वर्ग लोक में सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त कर अमर हो गया।।४।।

।।इति तृतीयोऽध्यायः।।

।।इत्यैतरेयोपनिषत्समाप्ता।।

स वामदेवोऽन्यो वैवं यथोक्तं ब्रह्म वेद प्रज्ञेनाऽऽत्मना येनैव प्रज्ञेनाऽऽत्मना पूर्वे विद्वांसोऽमृता अभूवंस्तथाऽयमपि विद्वानेतेनैव प्रज्ञेनाऽऽत्मनाऽस्माल्[1]लोकादुत्क्रम्येत्यादि

एवं तावत्कोऽयमात्मेत्यारभ्य प्रज्ञानं ब्रह्मेत्यन्तेन विचारपुरःसरमात्मतत्त्वं निर्धारितम्। आत्मा करणसंघातात्मकप्राणव्यतिरिक्तः संज्ञानादिसर्वान्तःकरणवृत्त्यतिरिक्तस्तदनुगतः स्वप्रकाशः सर्वशरीरेष्वेकःसर्वप्रपञ्चाधिष्ठानभूतोऽद्वितीयः प्रज्ञानं [2]ब्रह्म नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव इति। इदानीमेवं भूतब्रह्मात्मविदः फलं वक्तुं स एतेनेत्यादि श्रुतिवाक्यम्। तत्र तच्छब्देनैकवचनान्तेन प्रकृतानामपि कोऽयमात्मेत्येवं विचारयतां बहूनां परामर्शायोग्यत्वादिदानींतनस्य विदुषश्च स इति भूतवाचिना परामर्शायोग्यत्वात्पूर्वाध्यायोक्तो वामदेवः परामृश्यत इत्याह – स वामदेव इति। ब्रह्मविदः फलमित्यत्र वाक्यस्य तात्पर्याद्वामदेवादिपुरुषविशेषे तात्पर्याभावाद्यः कश्चन ग्राह्य इत्याह– अन्यो वेति। एवमिति। कोऽयमात्मेत्युक्तप्रकारेण प्रज्ञानरूपं यथोक्तं ब्रह्म प्रज्ञानेना[3]ऽऽत्मना वेदेत्यर्थः। [4]एतेनैवेत्ये-तच्छब्दोक्तं प्रकृतत्वं व्यक्ती करोति – येनैवेति। येनैव प्रज्ञेनाऽऽत्मना ब्रह्म विद्वांसः पूर्वेऽमृता अभूवंस्तेनैतेनैव प्रज्ञेनाऽऽत्मना यथोक्तं ब्रह्म [5]वेद वामदेवोऽन्यो वा सोऽमृतोऽभवत्। तथाऽयम-

---

तार्किकों द्वारा सभी प्रकार से जाना जाता है और अनेकों प्रकार से कल्पना किया जाता है। "इसे कोई अग्नि कहते हैं और कोई मनु, कोई प्रजापति, कोई इन्द्र, कोई प्राण और कोई सनातन ब्रह्म भी कहते है" इत्यादि स्मृति भी है।।३।।

अभेद आत्मदर्शी को मोक्ष की प्राप्ति

इस प्रकार पूर्वोक्त ब्रह्म को जानने वाला वह वामदेव या कोई अन्य पुरुष चेतनात्म स्वरूप से जिस चेतनात्म स्वरूप से पर्वूवर्ती विद्वान् अमरत्व को प्राप्त हुए थे। उसी प्रकार यह आधुनिक विद्वान् भी इस चेतनात्म स्वरूप से ही इस लोक से उत्क्रमण कर (मुक्त हो जाते हैं) इत्यादि वाक्य की

---

१. लोकादिति – देहादित्यर्थः। उत्क्रम्येति – देहात्मभावं त्यक्त्वेत्यर्थः। २. ब्रह्मेति – निरतिशयमहत्त्वशालीत्यर्थः। ३. प्रज्ञानाभिन्न इत्यर्थः। ४. एतेनैवेत्येवकारोऽधिको मूले वा स्यात्तद्नुमतः। ५. वेदेति – भूताभिप्रायं मन्यन्ते।

हरिः ॐ। वाङ्मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीरनेनाधीतेनाहोरात्रान्संदधाम्यृतं वदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि तन्मामवतु तद्वक्तार-मवत्ववतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम्।ॐ। शान्तिः शान्तिः शान्तिः। इति षष्ठः खण्डः।।६।।

इत्यैतरेये द्वितीयारण्यके सप्तमोऽध्यायः।।७।।

व्याख्यातम्। अस्माल्लोकादुत्क्रम्यामुष्मिन्स्वर्गे लोके सर्वान्कामानाप्त्वा[१]ऽमृतः समभवदित्योम्।।४।।

इति पञ्चमखण्डभाष्यम्।।५।।

इत्यैतरेये द्वितीयारण्यकभाष्ये षष्ठोऽध्यायः।।६।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-श्रीशंकरभगवतः कृतौ बह्वृचब्राह्मणोपनिषद्भाष्यं समाप्तम्।

पीदानींतनोऽपि विद्वानेतेनैव प्रज्ञेनाऽऽत्मनाऽस्माल्लोकादुत्क्रम्यामृतः समभवदित्यन्वयः। अत्रोत्क्रमणं पक्षिणो नीडादिवोर्ध्वगमनं न संभवति किंतु देहात्मभावत्यागेन प्रज्ञानात्मभाव एवेत्यभिप्रेत्य प्रज्ञे[२]नात्मनोत्क्रम्येत्युक्तम्। [३]प्रज्ञेनात्मना विद्वानिति वाऽन्वयः। उक्तमात्मतत्त्वमङ्गीकारवाचिनोंकारेण स्वानुभवप्रकटनेन दृढीकुर्वन्। ओंकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा। कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्[४]माङ्गलिकावुभाविति स्मृतेरोंकारेण ब्रह्मात्मानुसंधानलक्षणं मङ्गलं कर्तुमोमित्[५]युक्तमिति।।४।।

इति पञ्चमखण्डभाष्यटीका।।५।।

इत्यैतरेये द्वितीयारण्यकभाष्यटीकायां षष्ठोऽध्यायः।।६।।

इति [६]श्रीमदानन्दज्ञानविरचितायामैतरेयोपनिषद्भाष्यटीकायां षष्ठोऽध्यायः।।६।।

व्याख्या पहले की जा चुकी है अर्थात् इस लोक से उत्क्रमण कर इन्द्रियातीत स्वर्गलोक में समस्त कामनाओं को प्राप्तकर अमर हो गया इत्यलम्।।४।।

इस प्रकार ऐतरेयोपनिषत् शाङ्करभाष्य की श्रीकैलासपीठाधीश्वर परमादर्श आचार्य महामण्डलेश्वर श्री स्वामी विद्यानन्द गिरि विरचित मिताक्षरा सुबोधिनी व्याख्या पूर्ण हुई।।

श्री शङ्करः प्रीयताम्

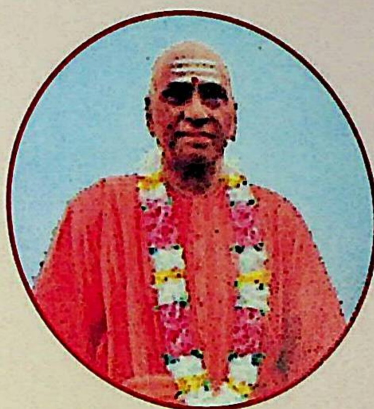
---

१. अमृत इति — शरीरप्राणवियोगलक्षणमरणरहितः। २. प्रज्ञेनात्मनोत्क्रम्येति — प्रज्ञानात्मभावं निश्चित्येत्यर्थः। ३. प्रत्यक्चैतन्य-स्वरूपत्वेन ब्रह्मवित्। ४. माङ्गलिकौ — मङ्गलवाचिनौ। ५. उक्तमिति — अत्र "उक्तवानि" त्येव पठितव्यमन्यथा दृढीकुर्वन्निति पूर्वोक्तस्यानन्वयापत्तेस्तत्र वा दृढीकुर्वतेति पाठ्यमेतदनुरोधात्। ६. श्रीमदित्यादि — अत्र लिखितपुस्तके अभिनवनारायणेन्द्र-सरस्वतीविरचितेति लभ्यते संभवति च।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोविन्दानन्दगिरिशिष्यविद्यावाचस्पतिस्वामिविष्णुदेवानन्दगिरि-विरचितं टिप्पणं समाप्तम्।

ॐ उदितः शुक्रियं दधे। तमहमात्मनि दधे। अनु मामैत्विन्द्रियम्। मयि श्रीर्मयि यशः। सर्वः सप्राणः सबलः। उत्तिष्ठाम्यनु मा श्रीः। उत्तिष्ठत्वनु माऽऽयन्तु देवताः। अदब्धं चक्षुरिषितं मनः। सूर्यो ज्योतिषां श्रेष्ठो दीक्षे मा मा हिंसीः। तच्चक्षुर्देवहितं शुक्र-मुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतम्। त्वमग्ने व्रतपा असि देव आ मर्त्येष्वा। त्वं यज्ञे-ष्वीड्यः। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

इति ऋक्शाखीयायामैतरेयोपनिषदि द्वितीयारण्यकान्तर्गत-मात्मषट्कं द्वितीयारण्यकं च समाप्तम्।। ॐ तत्सत्।।



षष्ठ कैलासपीठाधीश्वर विद्यावाचस्पति
अनन्तश्री स्वामी विष्णुदेवानन्द गिरि जी महाराज
(बड़े महाराज जी)

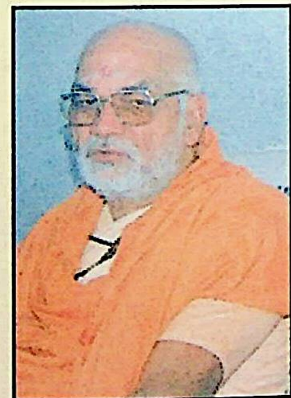
आपका जन्म धर्मप्रधान सौराष्ट्र प्रदेश के भावनगर मण्डलान्तर्गत तलगाजरडा निवासी वैष्णव परिवार में सन् १८८५ ई. में हुआ। माता पिता ने आपका विष्णु दास हरियाणी नाम रखा। आप बाल्यावस्था से ही विरक्त स्वभाव, धर्म एवं ईश्वर में पूर्ण निष्ठा रखने वाले थे। शिक्षा के लिए पिताजी और बड़े भ्राता श्रीत्रिभुवन दास हरियाणी जी की अनुमति से पहले बड़ौदा गये और वहाँ से भगवान् विश्वनाथ की नगरी काशी पहुँचे जहाँ नव्य व्याकरण, साहित्य तथा दर्शन विषयों को लेकर तीन बार सम्पूर्ण मध्यमा परीक्षा आपने उतीर्ण की। वेदान्त अध्ययन की अभिलाषा को लेकर आप ऋषिकेश कैलास आश्रम पहुँचे। तब से सदा-सदा के लिये आप कैलास आश्रम के ही हो गये। वहाँ लघु एवं बृहत् प्रस्थान त्रयी का गम्भीर अध्ययन आपने स्वामी गोविन्दानन्द गिरि जी महाराज एवं विद्यानिधि स्वामी प्रकाशानन्द पुरी जी महाराज से किया। दोनों गुरुजनों ने अपने जीवन के संजोये सम्पूर्ण विद्याधन का उत्तराधिकारी आपको ही बनाया। कैलास आश्रम के तत्कालीन पीठाचार्य श्री स्वामी जर्नादन गिरि जी महाराज के पवित्र कर कमलों द्वारा आपका संन्यास संस्कार सम्पन्न हुआ और तब से आप का नाम स्वामी विष्णुदेवानन्द गिरि जी पड़ा। आप अनुपम विद्वान् होने के साथ, कुशल कवि, संगीतज्ञ और समस्त दैवी गुणों के भण्डार थे। इच्छा न होते हुये भी गुरुदेव स्वामी गोविन्दानन्द गिरि जी महाराज की आज्ञा शिरोधार्य कर वि. सं. १९९५ में आपने कैलासपीठाधीश्वर के पद को स्वीकार किया।

कैलासपीठ पर आप १२ वर्षों तक विराजमान रहे। तत्पश्चात् स्वाभाविक उदासीनता एवं स्वास्थ्य की शिथिलता के कारण पदभार स्वामी निर्दोषानन्द गिरि जी को सौंप दिया और स्वयं जीवन मुक्ति का आनन्द लेते हुये उत्तर काशी में १२ वर्ष निवास किया। आप वै.कृ. ६ वि.सं. २०२१ को ब्रह्मलीन हो गये। आपकी जन्म शताब्दी १९८५-८६ ई. में वर्ष पर्यन्त बड़े धूम-धाम से मनाई गई जिसमें प्रगति के अनेकों कार्य सम्पन्न हुये। सन् १९९६ में अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त आपके वंशज पौत्र (ज्येष्ठ भ्राता के पौत्र) विश्वसंत श्री मोरारी बापू ने कैलास आश्रम में आपके निर्वाण रजत महोत्सव के पावन प्रसंग पर "गुरुजन समाराधन श्री राम कथा" करके आपको अपनी श्रद्धासुमनाञ्जलि समर्पित की।

देवानुग्रहत्रिदशकमहोत्सवप्रसङ्गे प्रकाशितम्

श्रीकैलासपीठाधीश्वर परमादर्श आ. म. मं.

श्रीमत्स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज



आप का जन्म २९ नवम्बर, सन् १९२१ को जिला पटना (बिहार) के गाजी पुर ग्राम में हुआ। आपके पिता श्रीमान् जवाहर शर्मा जी और माता श्रीमती ललिता देवी थीं। आप बाल्यकाल से ही भगवान् की उपासना में रुचि रखते थे। २० वर्ष की आयु में आपने घर गृहस्थी को त्याग कर साधु जीवन अपनाया। आपके गुरुदेव परमहंस स्वामी विज्ञानानन्द गिरि जी महाराज एवं परमगुरुदेव योगीराज स्वामी नित्यानन्द गिरि जी महाराज से आपने परमार्थ पथ की दीक्षा ली। अपनी सारस्वत साधना में आपने काशी में वेदान्त-सर्वदर्शनाचार्य तक अध्ययन कर परीक्षा पास की। तत्पश्चात् आप अध्यापन कार्य में संलग्न हुए। दस वर्षों तक दिल्लीस्थ विश्वनाथ संस्कृत महाविद्यालय के प्रधानाचार्य रहे। वहीं पर निरंजनपीठाधीश्वर आचार्य म.मं. स्वामी नृसिंह गिरि जी महाराज एवं निरंजनपीठाधीश्वर आचार्य म.मं. स्वामी महेशानन्द गिरि जी महाराज की छत्रछाया में संन्यास दीक्षा ली।

२१ जुलाई सन् १९६९ को आप कैलास ब्रह्मविद्यापीठ ऋषिकेश के महामण्डलेश्वर पद पर आसीन हुये। आपके कार्यकलापों से तब विद्यमान् कैलास आश्रम के दो पूर्वाचार्य म.मं. स्वामी विष्णुदेवानन्द गिरि जी महाराज एवं म.मं. स्वामी चैतन्य गिरि जी महाराज अत्यन्त संतुष्ट हुये। आपने ग्रन्थ रचना एवं प्रकाशन में विशेष रुचि ली और अनेकों ग्रन्थों का लोककल्याणार्थ प्रकाशन बड़े धैर्यपूर्वक करवाया। आप भारत के आध्यात्मिक एवं धार्मिक क्षेत्र के आचार्यों में अग्रगण्य हैं। साधु समाज की दृष्टि में आप की क्षमता, शक्ति, लगन, तत्परता, विद्वत्ता तपश्चर्या सहिष्णुता एवं उदारता सभी गगन-चुम्बी और अलौकिक है। आध्यात्मिक संस्कृति के सर्वाङ्गीन विकास और जन जीवन को दिव्यालोक प्रदान करने में आपने युगपुरुष की भूमिका निभाई है।

१० दिसम्बर १९९६ को आपके पावन जीवन के ७५ वर्ष पूर्ण होने पर आपका अमृत महोत्सव सन्तों एवं भक्तों ने बड़ी धूमधाम से मनाया और आपके सुदीर्घ स्वस्थ जीवन की आशुतोष भगवान् शंकर से प्रार्थना की। आषाढ़ शु. ७ वि. सं. २०५५ से सवा वर्ष पर्यन्त कैलासाश्रम में आपके पीठासीन हुए तीस वर्ष होने के उपलक्ष्य में "देवानुग्रह त्रिदशक" महोत्सव मनाया जा रहा है।